

वाग्भटालङ्कारः ।

श्रीवाग्भटविरचितः ।

पण्डितकुलपतिना

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीमच्छ्रीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्य्येण विरचितया,

तथा तदात्मजाभ्या

पण्डितश्रीमदाशुबोधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबोधविद्या-

रत्नाभ्यां परिवर्त्तितया परिवर्द्धितया च टीकया

समलङ्कृत्य ताभ्यामेव प्रकाशितः ।

चतुर्थं संस्कारं ।

कलिकातामहानगर्याम्

वाचस्पत्ययन्त्रे

मुद्रितः ।

५१२१७।

सर्व्वं कृतं संरक्षितम् ।

附錄 2 臺灣地區水質調查表

प्रकाशक— { पण्डित-ओआशुबोध-विद्याभूषण
तथा
पण्डित-ओनित्यबोध-विद्यारत्न ।

प्राप्तिस्थान— { २ न०, रमानाथ मजुमदार स्ट्रीट, ह्यारिसन-
रोड—पोष्ट अफिस । कलिकाता ।

प्रिण्टर—वि, वि, मुखर्जी ।

२ न०, रमानाथ मजुमदार स्ट्रीट, कलिकाता ।

सूचीपत्रम् ।

प्रथमपरिच्छेदे—

| विषयः | पृष्ठाङ्कः । |
|-----------------------------------|--------------|
| मङ्गलाचरणम् | १ |
| काव्यफलम् | ३ |
| काव्योत्पत्तौ कारणम् | ३ |
| प्रतिभा | ४ |
| व्युत्पत्तिः | ५ |
| अभ्यासः | ६ |
| अभ्यासप्रकारः | ७ |
| अन्यथावन्मस्याचारत्वीदा- हरणम् | ७ |
| धावत्कवित्वमभ्यास- कथनम् | ८ |
| तदुदाहरणम् | ९ |
| अन्यार्थानपहरणकथनम् | १० |
| समस्यायामन्यार्थपहरण कथनम् | १० |
| अर्थस्फुटिहेतवः | ११ |
| अर्थप्रकाशनप्रकारः | ११ |
| कविकर्तव्योपदेशः | १२ |
| उपदेशान्तरम् | १३ |
| अन्यविधोपदेशः | १४ |
| अर्थपरिवधोपदेशः | १४ |
| वचयोर्द्वयोर्भेदोपदेशः | १५ |
| दोषमुदाहरणानि | १५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्कः । |
|------------------------|--------------|
| हारबन्धचित्रम् | १८ |
| छन्दबन्धचित्रम् | २० |
| छन्दबन्धचित्रान्तरम् | २१ |
| काव्यनिर्माणकालनिर्णयः | २२ |

द्वितीयपरिच्छेदे—

| | |
|-------------------------------------|----|
| काव्यशरीरकथनम् | २३ |
| भाषानिरूपणम् | २४ |
| काव्यस्य वैविध्यनिरूपणम् | २५ |
| निर्दोषकाव्यप्रशंसा | २६ |
| पदगतदोषाः | २७ |
| सोदाहरणमनर्थकलक्षणम् | ३० |
| सोदाहरण श्रुतिकटु- लक्षणम् | ३१ |
| सोदाहरणं व्याहृतार्थ- लक्षणम् | ३२ |
| सोदाहरणमलक्षणलक्षणम् | ३३ |
| सोदाहरणं स्वमुक्त- प्रकृतलक्षणम् | ३४ |
| सोदाहरणमप्रमिद्वलक्षणम् | ३५ |
| सोदाहरणमसम्मतलक्षणम् | ३७ |
| सोदाहरणं शास्त्रलक्षणम् | ३८ |
| वाक्यमात्रदीर्घोक्तिप्रतिज्ञा | ३८ |
| वाक्यदोषाः | ३९ |
| सोदाहरणं खण्डितलक्षणम् | ४४ |

विषयः

पृष्ठाङ्कः ।

चतुर्थपरिच्छेदे—

सौदाहरणं व्यस्तसूत्रम्

लक्षणम् ...

४५

सौदाहरणसंस्मृतलक्षणम्...

४६

सौदाहरणमपक्रमलक्षणम् ...

४७

सौदाहरणं कृन्दिभट-

लक्षणम् ...

४८

सौदाहरणं रीतिभटलक्षणम्

४९

सौदाहरणं यतिभट

लक्षणम् ...

४९

सौदाहरणसंस्मृतियलक्षणम्

५०

अर्थदोषाः ...

५१

अर्थदोषादाहरणम् ...

५५

प्रकरणोपसंहारः ...

५६

तृतीयपरिच्छेदे—

गुणप्रयोजनम् ...

५७

गुणनामानि ...

५८

सौदाहरणसौदाध्यलक्षणम् ...

५८—५९

सौदाहरणं समताकान्या

लक्षणम् ...

६०—६२

सौदाहरणसंयत्यलक्षणम्...

६२

सौदाहरणं प्रमत्तालक्षणम्...

६३

सौदाहरणं समाधिलक्षणम् ...

६४

शेषोपसंहारलक्षणम् ...

६५

शेषोपसंहारलक्षणम् ...

६६

सौदाहरणं माधुर्यमौकुमाध्यथी

लक्षणम् ...

६७—६८

गुणोपसंहारः ...

६८

विषयः

पृष्ठाङ्कः ।

अलङ्कारलक्षणम् ... ७०

अलङ्काराणां नामानि ... ७०—७१

चित्रलक्षणम् ... ७२

चित्रोदाहरणम् ... ७२

शोडशदलकमलवन्धचित्रम् ... ७३

गोमूत्रिकावन्धचित्रम् ... ७३

गोमूत्रिकावन्धचित्रान्तरम् ... ७४

एकस्वरचित्रोदाहरणम् ... ७५

मावाच्यतकचित्रोदाहरणम् ... ७७

बिन्दुच्युतकचित्रोदाहरणम् ... ७८

एकव्यञ्जनचित्रोदाहरणम् ... ७९

अक्षरच्युतकचित्रोदाहरणम् ... ८०

वक्रोक्तिलक्षणम् ... ८१

संभङ्गश्लेषवक्रोक्तिकदाहरणम् ... ८२

असंभङ्गश्लेषवक्रोक्तिकदाहरणम् ... ८२—८३

अनुप्रासलक्षणम् ... ८४

छेकानुप्रासोदाहरणम् ... ८५

लाटानुप्रासोदाहरणानि ... ८५—८७

यमकलक्षणम् ... ८७

यमकोदाहरणानि ... ८८—१०५

स्वभावीकलक्षणम् ... १०६

स्वभावीक्युदाहरणद्वयम् ... १०६—१०७

उपमालक्षणम् ... १०८

उपमोदाहरणम् ... १०९

अपरमुपमोदाहरणम् ... १०९

अन्योपमोदाहरणम् ... ११०

उपमेयोपमाया उदाहरणम्... १११

| विषयः | उदाह. | विषयः | उदाह. |
|----------------------------------|---------|--------------------------------------|---------|
| अनन्वयोपमाया उदाहरणम् | ११२ | प्रतिषेधोक्तिमूलकाक्षेपस्य उदा- | |
| बहुपमंयमूलोपमाया उदा- | | हरणम् | १२७ |
| हरणम् | ११२—११३ | प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य उदा- | |
| अनेकोपमानमूलोपमाया | | हरणम् | १३ |
| हरणम् | ११३ | प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य प्राकृत | |
| उपमादीर्घाः तत्प्रतिप्रसवश्च ... | ११४ | काव्यस्थभन्वदुदाहरणम् | १२४ |
| उपमादीर्घोदाहरणम् | ११५ | सशयलक्षणम् | १२८ |
| उपमानस्य जातिप्रमाणगत | | शङ्कसंशयोदाहरणम् | १३ |
| न्यूनाधिकत्वोदाहरणम् | ११६ | निश्चयान्तसंशयोदाहरणम् | १३० |
| हीनाधिकविशेषणोपमानोदा- | | दृष्टान्तलक्षणम् | १३१ |
| हरणम् | ११७ | दृष्टान्तलङ्घारोदाहरणम् | १३१ |
| भिन्ननिङ्गोपमानोदाहरणम् | ११८ | व्यतिरेकलक्षणम् | १३२ |
| समासे निङ्गभेदस्य अदोषत्वोदा- | | व्यतिरेकोदाहरणम् | १३२ |
| हरणम् | ११८—११९ | अपङ्गुललक्षणम् | १३३ |
| विभिन्ननिङ्गरूपकोदाहरणम् | ११९ | अपङ्गुल्योदाहरणम् | १३३ |
| भिन्ननिङ्गपतिवस्तूपमाया- | | तुल्ययोगितालक्षणम् | १३४ |
| हरणम् | १२० | तुल्ययोगितोदाहरणम् | १३४ |
| रूपकलक्षणम् | १२१ | उत्प्रेक्षालक्षणम् | १३५ |
| सङ्गोदाहरणरूपकोदाहरणम् | १२१—१२२ | उत्प्रेक्षोदाहरणम् | १३५ |
| असमस्तखण्डरूपकोदा- | | अर्थान्तरन्यासलक्षणम् | १३६ |
| हरणम् | १२२ | अर्थान्तरन्यासोदाहरणम् | १३६—१३७ |
| समस्तखण्डरूपकोदाहरणम् | १२३ | समासीकलक्षणम् | १३८ |
| असमस्तखण्डरूपकोदा | | समासीक्युदाहरणम् | १३८ |
| हरणम् | १२४ | विभावनालक्षणम् | १३९ |
| प्रतिवस्तूपमालक्षणम् | १२५ | विभावनोदाहरणम् | १४० |
| प्रतिवस्तूपमायाहरणम् | १२५ | सोदाहरणं दोषकलक्षणम् | १४०—१४१ |
| अन्तिमलक्षणम् | १२६ | सोदाहरणं अतिशयोक्ति- | |
| अन्तिमदुदाहरणम् | १२६ | लक्षणम् | १४२ |
| आक्षेपलक्षणम् | १२७ | सोदाहरणं हेतुलक्षणम् | १४३—१४४ |

| विषयः | पृष्ठाङ्कः । |
|------------------------------|--------------|
| मादाहरणं पृथ्वीयांति | |
| लक्षणम् ... | १४६ |
| समाहितलक्षणम् ... | १४७ |
| समाहितीदाहरणम् ... | " |
| परिवर्तिलक्षणम् ... | १४८ |
| प्रथमपरिवर्त्युदाहरणम् ... | १४९ |
| द्वितीयपरिवर्त्युदाहरणम् ... | १४९—१५० |
| यथासङ्गलक्षणम् ... | १५० |
| यथासङ्गीदाहरणम् ... | १५०—१५१ |
| विषमलक्षणम् ... | १५१ |
| विषमोदाहरणम् ... | १५२ |
| सङ्गीतलक्षणम् ... | " |
| सङ्गीत्युदाहरणम् ... | १५३ |
| विरीधलक्षणम् ... | १५४ |
| शब्दकृतविरोधीदाहरणम् ... | १५४—१५५ |
| अर्थकृतविरोधीदाहरणम् ... | १५६ |
| अवसरलक्षणम् ... | " |
| अवसरोदाहरणम् ... | १५७ |
| सारलक्षणम् ... | १५८ |
| सारीदाहरणम् ... | " |
| शेषलक्षणम् ... | १५९ |
| शेषोदाहरणम् ... | १५९—१६० |
| समुच्चयलक्षणम् ... | १६१ |
| आद्यसमुच्चयोदाहरणम् ... | १६२ |
| द्वितीयसमुच्चयोदाहरणम् ... | १६२—१६३ |
| अप्रस्तुतप्रशंसालक्षणम् ... | १६३ |
| अप्रस्तुतप्रशंसादाहरणम् ... | १६४ |
| एकावलीलक्षणम् ... | " |
| एकावलीयुदाहरणम् ... | १६५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्कः । |
|----------------------------------|--------------|
| अनुमानलक्षणम् ... | १६६ |
| अतीतानुमानोदाहरणम् ... | " |
| अनागतानुमानोदाहरणम् ... | १६७ |
| वर्तमानानुमानोदाहरणम् ... | १६८ |
| परिसङ्ख्यालक्षणम् ... | " |
| परिसङ्ख्योदाहरणम् ... | १६९ |
| प्रश्नोत्तरलक्षणम् ... | १७० |
| सङ्करलक्षणम् ... | " |
| व्यक्तीत्तरीदाहरणम् ... | १७१ |
| गूढीत्तरीदाहरणम् ... | १७२ |
| गूढागूढीत्तरीदाहरणम् ... | १७३ |
| सङ्करीदाहरणम् ... | १७४ |
| ग्रन्थान्तरीक्तानामन्वेषमलङ्कारा | |
| णामनभिधाने हेतुकथनम् ... | " |
| उपसंहारः ... | १७५ |
| पञ्चमपरिच्छेदे— | |
| सभेदरीतिकथनम् ... | १७६ |
| गौडीरीतेरुदाहरणम् ... | १७७ |
| वैदर्या उदाहरणम् ... | १७८ |
| षष्ठपरिच्छेदे— | |
| काव्ये रसानामुपयोगः | |
| व्यवस्थापनम् ... | १७९ |
| रसस्वरूपकथनम् ... | " |
| रसनासानि ... | १८२ |
| शङ्कारलक्षणं तद्भेदश्च ... | १८३ |
| शङ्कारस्य भेदान्तरम् ... | " |
| नायकलक्षणम् ... | १८१ |
| नायकभेदः ... | १८२ |

| विषयः | सूत्राङ्कः | विषयः | पृष्ठाङ्कः |
|-----------------------------|------------|------------------------|------------|
| अनुकूलद्विगतीर्णत्वव्यवस्था | १२३ | वैतरसमत्वव्यवस्था | २१५ |
| अनुपपत्त्यर्थत्वव्यवस्था | १२६ | ककशावसमत्वव्यवस्था | २०० |
| नायिकाभेदः | १२८ | हाम्यवसमत्वव्यवस्था | २२१ |
| अन्तान्वयव्यवस्था | २०० | पातभेदेन हाम्यभेदः | २०२ |
| स्वकीयान्वयव्यवस्था | ... | अद्वैतरसमत्वव्यवस्था | २२४ |
| परकीयान्वयव्यवस्था | २०२ | अद्वैतरसमत्वव्यवस्था | ... |
| पञ्चाङ्गान्वयव्यवस्था | २०३ | भयानकरसमत्वव्यवस्था | २२६ |
| वैश्यादिनायिकाणां विशेषः | ... | भयानकरसमत्वव्यवस्था | ... |
| कथनम् | २०६ | रौद्ररसमत्वव्यवस्था | २०८ |
| विप्रलम्भशृङ्गारभेदाः | ... | रौद्ररसमत्वव्यवस्था | ... |
| पूर्वानुरागत्वव्यवस्था | २०७ | वैभक्त्यवसमत्वव्यवस्था | २३० |
| मानप्रवास्यार्थत्वव्यवस्था | २१० | शान्तरसमत्वव्यवस्था | २३२ |
| ककशाविप्रलम्भत्वव्यवस्था | २१४ | उपमहारः | २३५ |

शुद्धिपत्रम् ।

| पृष्ठे पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् । |
|----------------|------------------------------|--|
| ६० १ | सीदाहरणमाह,— | ... सीदाहरणमाह,— |
| ७६ ६ | दैवै— | ... दैवै— |
| १२ | स्त्रैः,—वितैश्च, | ... स्त्रैः,—स्वकीयैः, स्त्रैः,—वितैश्च |
| १३ | अहमिति.....सुष्ठु | ... त्वमिति शेषः, ऐः,— |
| १४ | एरैः सम्बद्धी भवानौत्पाशंसा, | ... सम्बद्धी भवेत्याशंसा |
| १५ | अत्र.....रूपम् | ... { अव “ऐः” इति क्रियापदं इन् गतौ इत्यस्य लङ्ङि रूपम् |
| ११६ ३ | अपरोदाहरणप्रकाशः,— | ... { उपमानस्य जातिप्रमाणागतव्युत्पादिक- लोदाहरणम्,— |
| १६७ १ | अनगता— | ... अनगता— |

वाग्भटालङ्कारः ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

मङ्गलाचरणम्,—

श्रियं दिशतुं वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा ।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥ १ ॥

नत्वा सरस्वतीं देवीं श्रीजीवानन्दशर्मणा ।

वाग्भटीयमलङ्कारशास्त्रं व्याख्यायते स्फुटम् ॥

अथ अत्रभवान् श्रीवाग्भटः, “समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्” इति श्रोतं प्रमाणयन्, “मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रयन्ते” इति महाभाष्यवाक्यञ्चानुसरन्, निर्विघ्नेन प्रारम्भितपरिसमाप्तये स्वाभीष्टदेवस्य परमश्रेयो-विधायकत्वेन कल्याणकामो स्ववर्गाणाम् आशिषम् आशंसते, श्रियमिति ।—देवः,—दीव्यति क्रीडति इति देवः, समस्त-भुवनानामुत्पत्तिपालनसंहाररूपक्रीडाकारीत्यर्थः, यद्वा,—देव-यति प्रकाशयति स्वात्मभासा सर्व्वमिति देवः, “तमेव भान्त-मनुभाति सर्व्वम्” [मुण्ड० उप० २ खण्ड० १० श्लोकः] इति श्रुतः ; स्वात्मभासा जगत्प्रकाशकः ; यद्वा,—दीव्यति सद्रूपेण त्यद्रूपेण च सम्पद्यते इति देवः, “सच्च त्यच्चाभवत्” [तैत्ति० उप० २ वल्ली० ६ श्लोकः] इति श्रुतः, निखिलजगदात्मभूत

इत्यर्थः, [एतेनास्य परमात्मत्वं व्यज्यते] श्रीनाभेयजिनः,—
 श्रिया—शोभया, अणिमादिविभूतिरूपया सम्पदा वा, युक्त इति
 शेषः, नाभेयः,—नाभेः, उत्पद्यमानः असौ जिनः,—बुद्धः ; यद्वा,
 —श्रियाः,—सकलशास्त्रज्ञानसमूहेः, इनः,—स्वामो, [एतेनास्य
 विष्णुस्वरूपत्वं सूच्यते] (“इनः पत्यो नृपार्कयोः” इति मेदिनी)
 इति श्रीनः ; नास्ति भेयं—भीतिजननयोग्यं वस्तु यस्य इति
 अभेयः, जिनः,—जितेन्द्रियत्वात् जयशीलः,—बुद्ध इत्यर्थः ;
 (“जिनोऽर्हति च बुद्धे च पुंसि स्याज्जित्वरे त्रिषु” इति मेदिनी)
 सदा—सर्वस्मिन् काले, वः,—युष्मभ्यम्, अलङ्कारशास्त्रम् अना-
 यासेनाधिगन्तुमिच्छद्वा इति यावत्, श्रियं—सम्पदम्, अध्यय-
 नीयशास्त्रस्यास्य तत्त्वाधिगमरूपाभ्युदयम् इत्यर्थः, दिशतु—
 ददातु । कः असौ ? इत्याह, मोक्षमार्गम् इति ।—यदागम-
 पदावली—यस्य—देवस्य, आगमपदावली—सिद्धान्तवाक्य-
 सन्दोहः, उपदेशवाक्यानां इति यावत्, यद्वा,—आगमरूपा पदा-
 वलीत्यर्थः, अथवा आगमैः,—वेदैः, प्रतिपाद्येति शेषः, पदावली
 —गुणवर्णनात्मकवाक्यसमूहः इत्यर्थः, यद्वा,—आ—सम्यक्,
 गमनम्—अपुनरावृत्तये यात्रा इत्यर्थः, तदर्थं पदावली—मोक्ष-
 मार्गं प्रवृत्तिजनकवाक्यसमूहः, सतां—साधूनां, [कर्मणि षष्ठी]
 मोक्षमार्गं—निर्वाणपद्धति, समस्तदुःखेभ्यः निस्तारापायमिति
 यावत्, ब्रूत—कथयति, केन साधनेन मोक्षो लभ्य इति दश-
 यति । अस्य पद्यस्य विष्णुदेवतापरत्वमपि सम्भवति ; यथा,—
 श्रीः,—लक्ष्मीः, नाभेयः,—नाभिदेशोत्पन्नः ब्रह्मा, ताभ्यां सह
 वर्तते यः जिनः,—जयति—परिहरति सर्वमनिष्टम् इति
 तथोक्तः, विष्णुरित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् । अत्रादौ आशब्दोपादानात्
 वर्णगणादिशुद्धिः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ;—“युजोश्चतुर्थतो जेन
 पथ्यावक्तं प्रकीर्तितम्” इति लक्षणात् ॥ १ ॥

काव्यफलम्, —

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।

स्फुटरीतिरमोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ २ ॥

काव्योत्पत्तौ कारणमाह, —

प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।

भृशोत्पत्तिक्रदभ्यास इत्याद्यकविसङ्ख्या ॥ ३ ॥

सप्रयोजनं काव्यलक्षणनिर्देशपुरःसरं काव्यनिर्माणमुप-
दिशति, साध्विति ।—साधू,—मनोहरौ, अनर्थकत्वादिविखण्डित-
त्वादिशब्दार्थदोषशून्यतया सहृदयहृदयाकर्षकाविति यावत्,
यौ शब्दार्थौ, तयोः सन्दर्भः,—रचनं, सङ्कटना वा यत्र तथोक्तं.
गुणैः,—वक्ष्यमाणैः औदार्यसमतादिभिः, अलङ्कारैः,—वक्ष्यमाणैः
चित्रादिभिः, भूषितं—राजितं, तथा स्फुटाः,—सुव्यक्ताः, रीतयः.
—वक्ष्यमाणाः पदसङ्कटनाविशेषाः, गौड़ीवैदर्भीनाटीपाञ्चाल्या-
दयः इति यावत्, तथा रसाः,—शृङ्गारादयः, तैः उपेतं—युक्तं,
काव्यं—कवेः इदं कर्म तत् तथोक्तं, [“गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः
कर्मणि च” (५ । १ । १४ पा०) इति थ्यञ्] लक्षण्या कवि-
कर्माभिन्नः ग्रन्थ इत्यर्थः, कीर्तये—यशसे, कुर्वीत—रचयेत् ।
यद्यपि,—“काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥” इति काव्य-
प्रकाशकृता, “चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्या-
देव—” इति साहित्यदर्पणकृता च, काव्यस्य बहुफलाधायकत्व-
मभिहितं, तथापि अत्र कीर्तये इत्येकमात्रफलकीर्तनम्
अर्थोपार्जनादीनां कीर्त्यतिरिक्तफलानामपि चरमं यशःप्राप्ति-
हेतुकतया तत्राधान्यं द्योतयितुम् इति बोध्यम् ॥ २ ॥

काव्योत्पत्तौ हेतुमाह, प्रतिभेति ।—तत्र—काव्यकरणे

प्रतिभाभाह,—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तिबोधविधायिनी ।

स्फुरन्ती सत्त्ववेर्वद्धिः प्रतिभा सर्व्वतोमुखी ॥ ४ ॥

[“तस्य” इति पाठान्तरम्] प्रतिभा—वक्ष्यमाणलक्षणा नवनवोन्मेषशालिशक्तियुक्ता बुद्धिः, कारणं—हेतुः, व्युत्पत्तिः,—वक्ष्यमाणलक्षणः बहुशास्त्रालोचनाजनितसंस्कारविशेषः, निपुणता इति यावत्, तु—पुनः, विभूषणं—विशेषशोभाजनकम् इत्यर्थः, तथा अभ्यासः,—पुनः पुनः अनुशीलनं, भृशोत्पत्तिकृत्—शीघ्ररचनकारक इत्यर्थः, इति आद्यकवीनां—प्राचीनकाव्यकृतां, मङ्गला—परस्परमिलितोक्तिः इत्यर्थः, अस्ति इति शेषः । एतेन प्रतिभा एव काव्यनिर्माणे कारणं, व्युत्पत्तिस्तु तस्य चारुत्वे हेतुः, अभ्यासः प्रभूतप्रणयनहेतुश्चेति निष्कर्षः । उक्तञ्च,—“कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः । तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥” इति ॥ ३ ॥

प्रतिभां लक्षयति, प्रसन्नेति ।—प्रसन्नानि—प्रमादगुणयुक्तानि, सुललितानि इति यावत्, (तथाक्तं वृत्तिवात्तिककारैः,—“नृत्यन्तीव स्फुटत्वात् प्रघोषयन्ते तदेव तात्पर्य्यम् । तैः स्यात् प्रसन्नपदता सहृदयरुचिरा समर्थिता शब्दैः ॥” इति) पदानि—“सुमिडन्तं पदम्” (१।४।१४ पा०) इत्युक्तनयेन सुमिडन्ताः शब्दाः, तेषां, नव्याः,—नवीनाः, पूर्व्वैः अनुज्ञाविताः ये अर्थाः,—प्रतिपाद्यविषयाः, अभिनववर्णनीया इत्यर्थः, तैः युक्तिः,—सम्प्रयोजनं, ललितपदानां नूतनवर्णनोपयवस्तुभिः सह सङ्घटना इत्यर्थः, तत्र बोधं—ज्ञानं, विधत्ते इति तद्व्याभूता, तद्विधकारिणी इत्यर्थः, यदा,—प्रसन्नपदानि च नव्यार्थाश्च युक्तयश्चेति तद्विधविधायिनीत्यर्थः, [“युक्त्युद्बोधविधायिनी” इति पाठान्तरेऽपि नार्थपार्थक्यम्] स्फुरन्ती—दीप्यमाना, सर्व्वतोमुखी—

व्युत्पत्तिमाह,—

शब्दधर्मार्थिकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका ।

प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥ ५ ॥

समन्तात् प्रसारिणी, सत्कवेः,—प्रशस्तकाव्यरचयितुः, बुद्धिः,—
प्रज्ञा, प्रतिभा, उच्यते इति शेषः । इयमेव शक्तिरूपेण निरूपिता
रुद्रटेन,—“मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिध-
यस्य । अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति । पुंसा
सह जातत्वादबयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥ स्वस्याऽसौ संस्कार
परमपरं मृगयते यतो हेतुम् । उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या
जन्यते परया ॥” इति ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिं लक्षयति, शब्देति ।—“इन्द्रान्ते श्रूयमाणशब्दानां
प्रत्येकमभिसम्बन्धः स्यात्” इति शब्दार्दानां प्रत्येकं शास्त्रशब्देन
अन्वयः, तथा च,—शब्दशास्त्राणि—व्याकरणादीनि, धर्म-
शास्त्राणि—मनुस्मृत्यादीनि, अर्थशास्त्राणि—राजनीत्युपदेश-
प्रधानानि शुक्रनीति-विदुरनीतिप्रभृतीनि, कामशास्त्राणि—
वात्स्यायनादिप्रणीतानि कामसूत्रादीनि, चतुःषष्टिविधकला-
शिक्षा इति यावत्, [आदिशब्दात् छन्दोऽलङ्कारादेः ग्रहणं]
तेषु, आम्नायः,—गुरुपरम्परया उपदेशः, पूर्वः यस्यां तथा
विधा, असामान्या—असाधारणी, प्रतिपत्तिः,—बोधः, व्युत्पत्तिः
अभिधीयते—उच्यते । तथोक्तं रुद्रटेन,—“छन्दो व्याकरण-
कला-लोकस्थिति-पद-पदार्थविज्ञानात् । युक्तायुक्तविवेको व्युत्प-
त्तिरियं समासेन ॥ विस्तरतस्तु किमन्यत्, तत इह वाच्यं न
वाचकं लोके । न भवति यत् काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्येषा ॥”
इति ॥ ५ ॥

अभ्यासमाह,—

अनारतं गुरुपान्ते यः काव्ये रचनादरः ।

तमभ्यासं विदुः ॥ ६ ॥

तत्रकारमाह,—

तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥

विभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया ।

वशीकुर्वीत काव्याय क्खन्दांसि निखिलान्यपि ॥७॥

अभ्यासं लक्षयति, अनारतमिति ।—अनारतम्—अविरतं, गुरोः,—आचार्यस्य, उपान्ते—समीपे, काव्ये—तस्मिन् विषये, यः रचनादरः,—गुम्फनयत्नः, तम् अभ्यासं विदुः, बुधाः इति शेषः । तथोक्तं रुद्रटेन,—“अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम् । नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ॥ सम्पादितं ततः स्याद्विलक्षणत्वं यदेव सोऽभ्यासः ॥” इति ॥ ६ ॥

ननु अभ्यासः कादृशः कार्यः ? इत्याशंसायां तदुपदेष्टुं कन्दसाम् उपयोगं तद्वशीकरणोपायञ्चाह, तस्येति ।—तस्य—अभ्यासस्य, कः अपि—कश्चित्, सङ्क्षिप्त इति यावत्, क्रमः,—प्रकारः, उपदिश्यते—शिक्ष्यते । बन्धे—कवितारचनायां, चारुत्वं—मनोज्ञत्वं, विभ्रत्या—दधत्या, अर्थशून्यया—निरर्थकया, [अपिरत्राध्याहार्यः] किं पुनः अर्थयुक्तया इति भावः, पदावल्या—पदानां—सुबन्तानां तिङन्तानाञ्च, आवली—समूहः, तथा, निखिलानि—समस्तानि, क्खन्दांसि—अप्रभृतोनि वृत्तानि, काव्याय—काव्यरचनायै, काव्यरचनाविधिमभ्यसितुमिति यावत्, [तुमर्थेयं चतुर्थी] वशीकुर्वीत—आयत्तीकुर्वीत । कवितोत्कर्षतां चिकीर्षुहि प्रथममर्थेनिरपेक्षसुललितपदविन्यासाभ्यासेन क्खन्दां पूरणं स्वायत्तं कुर्वीतिति भावः । तथा

पश्चाद् गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणामलोपनम् ।

विसन्धिवर्जनञ्चेति बन्धचारुत्वहेतवः ॥ ८ ॥

अन्यथा बन्धस्याचारुत्वमिदुदाहरति,—

शिते कृपाणे विधृते त्वया घोरे रणे कृते ।

बधोश ! क्षितिपा भीत्या वन एव गता जवात् ॥ ९ ॥

च,—“गृ श्रोः” इत्येकाक्षरा वृत्तिः । अत्र उदाहरणं,—“श्रोस्ते मास्ताम्” इत्यत्रार्थयुक्तया पदावल्या एकाक्षरं कृन्दः, निरर्थकया पदावल्या एकाक्षरवृत्तपूरणन्तु “का खा गा वा” इति ; तदेवं निरर्थकाभ्यामपि कृन्दमः वशाकरणं भवति इति भावः । अत्र “पदावल्या—पदपरम्परया अष्टगणरूपया” इति केनचित् व्याख्यातं, तत्र समोच्चारणम् ; अर्थशून्यया इति तद्विशेषणस्य अनुपपत्तिः, गणानाञ्च तेषां—“मन्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः । जो गुरुमध्यगतो र-लमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥” इति पारिभाषिकत्वेन अर्थवत्त्वात्, इति बोध्यम् ॥ ७ ॥

रचनायाश्चारुत्वसम्पादने प्रकारमाह, पश्चादिति ।—संयोगात्—संयुक्तवर्णात्, पश्चात्—पूर्वम् इत्यर्थः, गुरुत्वं—गुर्वक्षर-वदुच्चारणं, विसर्गाणाम् अलोपनं—लोपाकरणं, विसर्गसद्भावस्य ओजोगुणजनकत्वादिति भावः ; तथा विसन्धिवर्जनं—विरुद्धः, —श्रुतिदुष्टत्वावहत्वेन अमनोरमः, असौ सन्धिः,—संहिता, तस्य वर्जनम्—अकरणं, विकटसन्धिपरित्याग इत्यर्थः, इति—एते, त्वय इति शेषः, बन्धचारुत्वस्य—रचनालालित्यस्य, हेतवः,—कारणानि भवन्तीति शेषः ॥ ८ ॥

एवं रचनायाः मनोरमत्वसाधनोपायानभिधाय, अन्यथा तस्या अमनोरमत्वमेवोद्यमिति बोधयितुं तदुदाहरणं दर्शयति,

यावत्सत्कवित्वमभ्यस्येदित्याह,—

अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वतः ।

अर्थसङ्कलनातत्त्वमभ्यसेत् सङ्ख्यास्वपि ॥ १० ॥

शिते इति ।—हे ब्रधोश !—नृणां—मनुष्याणाम्, अधीशः,—
निग्रहानुग्रहविधादत्वेनाधीश्वरः, तत्सम्बद्धौ तथोक्त नरपते !
इति यावत्, त्वया शिते—तीक्ष्णे, कृपाणे—करवाले, विधृते—
करेण गृहीते, तथा घोरे—भयावहे, रणे—सङ्ग्रामे, कृते सति,
क्षितिपाः,—राजानः, भौत्या—भयेन, जवात्—वेगात्, त्वराऽति-
शयात् इत्यर्थः, वने एव गताः,—युद्धं राज्यञ्च परित्यज्य स्वान्
प्राणान् रक्षितुं निजेन देशं प्रस्थिताः, सर्व्वं विहाय पलायिताः
इत्यर्थः । अत्र “विधृते त्वया” इत्यत्र “ते” इत्यंशस्य स्वाभाविके
गुरुत्वे विद्यमाने “त्व” इति संयुक्तवर्णकृतो गुरुत्वाभावः, परं
“ब्रधोश” इत्यत्र सन्धेर्वैकट्यं, तथा “क्षितिपा भौत्या” इत्यत्र
विस्मर्गलोपः चारुत्वं व्यपोहति, अत एव चन्द्रालोककृतोक्तं,—
“स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणौयता । शब्देऽर्थे च
कृतोन्मेषं दोषमुद्धोषयन्ति तम् ॥” इति ॥ ८ ॥

यावत् सत्कवित्वाऽऽपादकं नवनवार्थस्फुरणं न स्यात्
तावत् तदर्थमभ्यस्येदित्याह, अनुल्लसन्त्यामिति ।—अभिनव-
त्वतः,—अभिनवत्वात्, अभिनवत्वेन प्रयोज्यत्वात् इत्यर्थः,
नव्यार्थस्य—नूतनस्य, पूर्व्वैः अनुद्गावितस्य इति भावः, अर्थस्य—
प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः, वर्णनीयस्य विषयस्य, युक्तौ—योजने,
रचने इति यावत्, अनुल्लसन्त्याम्—अपरिस्फुरन्त्याम्, अजाय-
मानायामित्यर्थः सन्त्यां, सङ्ख्यासु—परस्परवाक्येषु, लौकिक-
व्यवहारकथांस्ति यावत्, अपि—किमुत काव्यरचनायाम् ?
इति अपिशब्दाद्यैः, अर्थानां सङ्कलनातत्त्वं—संयोजनास्वरूपं,

उदाहरति,—

आगम्यतां मखे ! गाढमालिङ्गाऽत्र निषीद च ।

सन्दिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय ॥ ११ ॥

अन्वये नानुवर्तित्याह,—

परार्थबन्धाद् यश्च स्याद्भ्यासो वाच्यसङ्गतौ ।

स न श्रेयान् यतोऽनेन कविर्भवति तत्स्वरः ॥ १२ ॥

रचनाप्रकारमिति यावत्, कथम् अर्थमयोजनं सूचकतया कर्तव्यम् ? इति जिज्ञासामिति भावः, अभ्यसेत्—पुनः पुनः अनुशीलयेत् । “अभ्यसेत्” इति क्रियापदन्तु नामधातुना कश्चित् साधनीयम् ॥ १० ॥

अभ्यामकालिकं वाक्यमुदाहरति, आगम्यतामिति ।—गृहात् आगतं सुहृदं प्रति कस्यचित् प्रेषितस्य उक्तिरियम् । हे मखे !—मित्र ! आगम्यताम्—आगमनं क्रियतां, स्वागतं ते स्यादिति भावः, गाढम् आलिङ्ग्य—आस्निष्य, अत्र—अस्मिन् स्थाने, मत्सन्निधौ इति यावत्, निषीद च—उपविश च, निजभ्रातृजायया,—निजभ्रातुः,—स्वकीयभ्रातुः, लक्षणाया तत्सदृशस्य समेत्यर्थः, जायया—पत्न्या, मत्पत्न्येत्यर्थः, [भ्रातृशब्देन समादरातिशयः व्यज्यते] यत् सन्दिष्टं—वाचिकं प्रेषितं, तत् निवेदय—कथय । यद्यपि सर्वमेवेदं लौकिकं वाक्यम्, “आगम्यतां” “निषीद” इत्यादीनि क्रियापदानि च भग्नप्रक्रमानि, तथाऽपि अभ्यासावस्थायां नव्यार्थयुक्तेरस्फुरणात् युज्यन्ते ; एवमपि पुनःपुनरनुशीलने कृते स्वयमेव दोषज्ञानं भूत्वा निर्दोषं काव्यं परिस्फुरेत् इति उदाहरणतात्पर्यम् ॥ ११ ॥

अन्यदीयमर्थमादाय काव्यं न विधेयमित्याह, “परार्थेति । —वाच्यस्य—अभिधेयस्यार्थस्य, सङ्गतौ—[विषये सप्तमीयम्] सामञ्जस्यविधानार्थम् इत्यर्थः, परार्थबन्धात्—परस्य—अन्यस्य

समस्यायामन्यार्थस्य ग्रहणं दिव्याह,—

परकाव्यग्रहोऽपि स्यात् समस्यायां गुणः कवेः ।
अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ॥ १३ ॥

कवेः इति भावः, अर्थबन्धः,—प्रतिपाद्यरचनं, तस्मात्, [ल्यब-
लोपे पञ्चमो] तम् अवलम्ब्य इत्यर्थः, यः अभ्यासः,—वाग्विर-
चने पुनः पुनः यत्नः, स्यात्, सः,—अभ्यासः, न श्रेयान्—ने
शुभकरः ; यतः,—यस्मात्, अनेन—एवंविधाऽभ्यासेन इत्यर्थः,
कविः तत्स्करः,—चौरः, तद्वत् निन्द्यो वा भवति । यथोक्तम्,—

“परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो

विज्ञायते चौरिह काव्यचौरः ।

विलोक्य भाणिक्यमयोग्यहस्ते

प्रत्येति को नाम यदेतदस्य ? ॥” इति ।

अतु एवं साहित्यदर्पणोक्ताऽप्यभिहितम्,—

“कृतप्रवृत्तिरन्यार्थं कविर्वान्तं समश्नुते ।” इति ॥ १२ ॥

कुत्र परार्थबन्धग्रहणं गुणाय इत्याह, परेति ।—समस्यायां
—परकृतश्लोकादेः असमग्रोक्तस्य अंशपूरणार्थं प्रश्ने इत्यर्थः,
परकाव्यग्रहः,—परकाव्यस्य—परकीयस्य वाक्यस्य, ग्रहः,—
ग्रहणं, तत्पूर्त्यर्थमुपादानम् इति भावः, गुणः स्यात्, अन्यथा
तत् अमङ्गलं स्यादिति तात्पर्यम् ; हि—यतः, असौ—उत्तरदाता
कविः इत्यर्थः, तदर्थानुगतं—तस्याः,—समस्यायाः, अर्थानुगतम्
—अर्थसङ्गतं, नवम् अर्थं रचयति—निबध्नाति । समस्या नाम
परकीयस्य पद्यस्य पादं पादांशं पादद्वयं वा आदाय, अव-
शिष्टांशपूरणात् पद्यरूपेण तदर्थस्य समर्थनम्, अतः परकीय-
पद्यांशस्य स्वप्रतिभोत्यापितेन अर्थेन समर्थनार्थं हरणमपि न
हरणम्, न च कवेः चौरत्वमपीति ॥ १३ ॥

अर्थस्फूर्तेर्हेतूनाह,—

मनःप्रसत्तिः प्रतिभा प्रातःकालेऽभियोगिता ।

अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः ॥ १४ ॥

अर्थप्रकाशनप्रकारमाह,—

समाप्तमिव पूर्वार्द्धे कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।

तत्पुरुषबहुव्रीही न मिथः प्रत्ययावहौ ॥ १५ ॥

अर्थस्फुरणं कथं स्यादित्यपेक्षायां तदुपायभूतान् हेतूनाह,
मन इति ।—मनःप्रसत्तिः,—मनसः प्रसादः, चित्तवृत्तेः
प्रसन्नता इत्यर्थः, प्रतिभा—“प्रसन्नपदनव्यर्थयुक्तिबोधविधा-
यिनी । स्फुरन्तो सत्कवेर्बुद्धिः” इति “प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनो
प्रतिभा मता” इत्युक्तलक्षणा वा बुद्धिः, प्रातःकाले—प्रभाते,
तदानीं चित्तवृत्तेः निर्मलत्वस्य स्वतःसिद्धत्वात्, अभियोगिता
—रचनायां प्रवर्तनम् इत्यर्थः, [“प्रातःकालोऽभियोगिता”
इति पाठान्तरे तु प्रातःकालः,—प्रभातसमयः, अभियोगिता
—उद्योगित्वम्, अभिनवार्थाविष्करणविषयकयत्नपरत्वमिति
यावत्] तथा अनेकशास्त्रदर्शित्वं—बहुशास्त्रावलोकनम्, इति
—एत इत्यर्थः, अर्थालोकहेतवः,—अर्थानां—प्रतिपाद्यवस्तूनाम्,
आलोके—उद्भावेन, हेतवः,—कारणानि ॥ १४ ॥

प्रतिपाद्यार्थप्रतिपादनप्रकारमुपदिशति, समाप्तमिति ।—
पूर्वार्द्धे—पूर्वभागे, श्लोकस्य इति शेषः, अर्थप्रकाशनम्—अर्थस्य
—श्लोकपूर्वार्द्धेप्रतिपाद्यस्य, प्रकाशनं—विधानं, समाप्तम् इव—
प्रायेण समाप्तम् इत्यर्थः, अत एव द्वितीयपादान्तद्वितीयपादयोः
सन्धिः समासश्च न करणीय इत्यपि बोध्यम् । तथा तत्पुरुष-
बहुव्रीही—तन्नामानौ समासो, मिथः,—परस्परं, प्रत्ययावहौ
—विश्वासयोग्यो, न—नैव कार्यौ, असन्दिग्धौ कार्यौ इति

कर्त्तव्यविशेषमाह,—

एकस्यैवाभिधेयस्य समासं व्यासमेव च ।

अभ्यसेः कर्त्तुमाधानं निःशेषालङ्क्रियास्वपि ॥ १६ ॥

यावत् । यथा,—“वृत्रशत्रुः” इत्यत्र किं “वृत्रस्य शत्रुः” इति तत्पुरुषः ? उत,—“वृत्रः शत्रुः यस्य” इति बहुव्रीहिः ? इत्थं संशयसंहितौ न कुर्व्यात् इति भावः । केचित् तु—“षष्ठौ तत्पुरुषं रामो बहुव्रीहिं पिनाकधृक । प्राह रामेश्वरे नाम्नि ब्रह्माद्याः कर्मधारयम् ॥” इत्यादौ तु वक्तृबोद्धव्यभेदात् एकस्मिन्नपि पदादौ समासभेदस्तु न दूषणीय इत्याहुः ॥ १५ ॥

तत्र काव्यानिर्माणे वाक्यार्थानामलङ्काराणाञ्च आरोपाभ्यासकर्त्तव्यतामुपदिशति, एकस्येति ।—एकस्य एव अभिधेयस्य—प्रतिपाद्यस्य, वर्णनीयस्य इत्यर्थः, समासं—सङ्क्षेपेण कथनं, व्यासं—विस्तरेण कथनञ्च, (यथा,—“चन्द्रः” इति एकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये—“अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः” इति ; यथा वा,—“वरवर्णिनी” इति वक्तव्ये—“निदाघशीतल-हिम-कालोष्णसुकुमारमर्वावयवा” इति) तथा निःशेषासु—समग्रासु, अलङ्क्रियासु—अलङ्कारिषु, अनुप्रासोपमादिषु इति यावत्, अपि, आधानम्—आरोपणं, कर्त्तुम् अभ्यसेत्—अनुशीलयेत्, काव्यानिर्माणे दाक्षिण्यं प्रतिपिबुः इति कर्त्तृपदम् अत्राध्याहार्यम् । अनुप्रामादौ शब्दालङ्कारे आरोपणन्तु वर्णपदतदेकदेशानामन्यतमस्य तत्सजातीयवर्णाद्यावर्त्तनेन तदेकस्थानोच्चार्यत्वेन च सदृशोक्तिरूपं बोध्यम् ; तत्र सजातीयवर्णानां पुनरावर्त्तनरूपं यथा,—“आदाय वकुलगन्धान् मोहयन्” इत्यादौ, तथा “कावेरोजलपावनी वायुः” एव वक्तव्ये—“मोहयन्” इत्यत्र “अन्धयन्” इति, “जल” इत्यत्र “वारि” इति,

उपदेशान्तरम्,—

स्यादनर्हान्तपादान्तेऽप्यशैथिल्ये लघुर्गुरुः ।

पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः ॥ १७ ॥

“वायुः” इत्यत्र च “पवनः” इति; तथा क्लेकानुप्रास-यमकादीना-
मुदाहरणेऽपि ज्ञेयम् । उपमादावर्थालङ्कारे च “अस्या मुखम्”
इति मुखस्य वर्णनीयत्वे “चन्द्र इव मुखम्” इति चन्द्रसास्य-
प्रतीतिरूपमुपमया, “चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः” इत्युप-
मेयोपमया, “मुखं मुखमिव” इत्यनन्वयेन, “मुखमिव चन्द्रः”
इति प्रतीपेन, “चन्द्रं समीक्ष्य मुखं स्मरामि” इति स्मरणेन,
“मुखमेव चन्द्रः” इति रूपकेण, “मुखचन्द्रेण दुःखं नश्यति”
इति परिणामेन, “किमिदं मुखम् ? उत चन्द्रः ?” इति
सन्देहेन, “चन्द्रोऽयं न मुखम्” इत्यपह्नुवेन, “नूनं चन्द्रः”
इत्युत्प्रेक्षया, “चन्द्रोऽयम्” इत्यतिशयोक्त्या, “मुखेन चन्द्रकमले
विजिते” इति तुल्ययोगितया, “रात्रौ तव मुखं चन्द्रश्च शोभते”
इति दीपकेन, “दिवि चन्द्रो भुवि तव मुखम्” इति दृष्टान्तेन,
“मुखं चन्द्रश्चियं धारयति” इति निदर्शनया, “अकलङ्कं मुखं
चन्द्रादतिरिच्यते” इति व्यतिरेकेण, “तव मुखेन समं चन्द्रो
रजन्यां हृष्यति” इति सहोक्त्या, “तव मुखे एवाहं रज्यामि
चन्द्रे एव चकोरः समासजते” इति प्रतिवस्तूपमया, “चन्द्र इति
चकोराः कमलमिति चञ्चरीकाः त्वन्मुखे रज्यन्ति” इति उल्ले-
खेन, “चन्द्र इति त्वन्मुखं चकोराः अनुसरन्ति” इति भ्रान्ति-
मता, “त्वन्मुखं शोकध्वान्तमपसार्य हृदयकुमुदानि विकाशयति”
इति समासोक्त्या, “मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः” इत्यप्रस्तुत-
प्रशंसया, एवमन्येरप्यलङ्कारैः समारोपणं स्वयमूहनीयम् ॥ १६ ॥

अन्यदपि शिक्षणीयं निर्दिशति, स्यादिति ।—अनर्हान्त-

अन्यविधीपदेशः,—

भुवनानि निबध्नीयात् त्रीणि सप्त चतुर्दश ।

अयदृश्यां सितां कीर्त्तिमकीर्त्तिञ्च ततोऽन्यथा ॥ १८ ॥

अन्यच्च,—

वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त वाऽम्बुधीन् ।

चतस्रः कीर्त्तयेद्वाऽष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ॥ १९ ॥

पादान्ते—प्रथमद्वितीयपादान्ते, अपि—द्वितीयचतुर्थपादान्ते च इत्यर्थः, अशैथिल्ये—निविडबन्धे सति, लघुः गुरुः स्यात्—गुरुत्वेन गण्यते इति भावः, तथा बुधैः,—विद्वद्भिः, पादस्य आदौ, प्रायशः,—प्रायेण, चादयः,—च वा-तु-हिप्रभृतयः, न च वक्तव्याः,—नैव योज्या इत्यर्थः । प्रायशः इति ग्रहणान् हे-हन्त-अहोप्रभृतीनां योजने न दोषः इति बोध्यम् ॥ १७ ॥

अन्यदपि उपदिशति, भुवनानीति ।—भुवनानि—जगन्ति, त्रीणि—स्वर्गमर्त्यपातालभेदेन त्रिसङ्ग्रहकानि, सप्त—भूर्भुवः-स्वर्महर्जनतपःसत्यभेदेन सप्तरूपाणि वा, तथा चतुर्दश—पूर्वोक्तानि सप्त, एवम् अतल-वितल-रसातल-सुतल-नितल-तलातल-पातालरूपाणि सप्त इति मिलित्वा चतुर्दशसङ्ग्रहकानि, किञ्च अदृश्याम्—अमूर्त्ताम्, अपि कीर्त्तिं—यशः, सितां—शुभ्राम्, अकीर्त्तिञ्च ततः अन्यथा—असिताम् इत्यर्थः, निबध्नीयात्—वर्णयेत् इत्यर्थः । तथोक्तं विश्वनाथेन,—“मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता, वर्ण्यते हासकीर्त्त्योः” इति ॥ १८ ॥

अन्यदप्याह, वारणमिति ।—इन्द्रस्य—देवराजस्य, वारणं—हस्तिनम्, ऐरावतम् इत्यर्थः, शुभ्रं—श्वेतम् ; अम्बुधीन्—समुद्रान्, चतुरः,—पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरसमुद्रभेदेन चतुः-सङ्ग्रहकान्, वा—अथवा, सप्त—लवणेक्षु-क्षीर-दधि-घृत-सुरा-

ववयोर्डलयोरभेदीपदिशः,—

यमकश्लेषचित्रेषु ववयोर्डलयोर्न भित् ।

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥ २० ॥

तेषामुदाहरणानि यथा,—

शङ्कमानैर्महीपाल ! कारागारविडम्बनम् ।

त्वदैरिभिः सपत्नीकैः श्रितं बहुविलं वनम् ॥ २१ ॥

मलिलसमुद्रभेदेन सप्तसङ्ख्यकान्, (तथा चाक्तं,—“लवणेक्षुसुरा-
सर्पिर्दधिदुग्ध-जलान्तकाः । समुद्राः सप्त चैवान्ये” इति) ;
तथा ककुभः,—दिशः, चतस्रः,—पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरभेदेन,
आग्नेयी-नैऋती वायवी-ऐशानी इति चतस्रः विदिशः, पूर्वा-
दिभिः सह योगात् अष्टौ वा, तथा क्वचित् पूर्वादिभिरष्टभिः
ऊर्द्धाधोदिशोः सम्मेलनेन दश वा, कीर्तयेत्—वर्णयेत् ॥ १८ ॥

यमकादिविषये डलयोर्ववयोश्चाभेदं चित्रे विसर्गानु-
स्वारयोश्चित्रभङ्गाभावञ्चोपदिशति, यमकेति ।—यमक-श्लेष-
चित्रेषु—तदाख्येषु अलङ्कारविशेषेषु, ववयोः,—वर्गान्तःस्थयोः
इत्यर्थः, तथा डलयोः, भित्—भेदः, न गण्य इति शेषः, तथा
अनुस्वारविसर्गौ चित्रभङ्गाय—चित्रस्य—तदाख्यकाव्यविशेषस्य,
भङ्गाय—व्याघाताय, न सम्मतौ—न गणितौ ॥ २० ॥

यमकालङ्कारे डलयोः ववयोरैक्यमुदाहरति, शङ्कमानै-
रिति ।—कस्यचिद् राज्ञः पराक्रमस्तुतिरियम् । हे महीपाल !
—नरपते ! त्वदैरिभिः,—तव शत्रुभिः, निर्जितैः इति शेषः,
कारागारविडम्बनं—कारागारे—त्वदीयेऽपराधिवन्धनगृहे विड-
म्बनं—कठोरपरिश्रमादिजनितशरीरक्लेशं, शङ्कमानैः,—विचि-
न्तयद्भिरित्यर्थः, “पलायनमन्तरेण महाविक्रमात् नरपतेरस्मात्
अस्माकं कथमपि नास्ति मोक्षः” इति विभ्यद्भिरित्यर्थः, अत एव
सपत्नीकैः,—सस्त्रीकैः सङ्गैः, बहुविलं—बहूनि विलानि—

त्वया दयार्द्रेण विभो ! रिपूणां
 न केवलं संयमिता न बालाः ।
 तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिः
 मुहुर्महोपातविधूसराङ्गाः ॥ २२ ॥

कौटरन्ध्राणि यस्मिन् तत्, प्रभूतसर्पादिविवराकीर्णमित्यर्थः, वनम्—अरण्यं, श्रितं—गतमित्यर्थः । यद्वा बहु इति च्छेदः ; [तत्पक्षे जातावेकवचनम्] बहूनि विलानि अरण्यानि च यथालाभमाश्रितानि इति भावः । अत्र हि “विडम्बनं” “विलं वनम्” इत्येतयोः डलयोः बवयोश्च भेदाभावाङ्गीकारात् न यमकत्वहानिः ॥ २१ ॥

श्लेषालङ्कारे बवयोरैक्यमुदाहरति, त्वयेति ।—हे विभो !—राजन् !, न केवलं त्वया दयार्द्रेण—दयापरवशेन सता, [प्रयोजककर्तृभूतेन] महोपातेन—भूलुण्ठनेन, विधूसराणि—मलिनानि, अङ्गानि—अवयवाः, येषां तथाभूताः, रिपूणां—शत्रूणां, बालाः,—अर्भकाः, [बलन्ति प्राणन्ति इति बालाः ; वर्ग्यवकारात्मकस्य “बलप्राणने” इति भ्वादिगणीयबलधातोः कर्तरि ण-प्रत्ययनिष्पन्नत्वादस्य वकारस्य वर्ग्यत्वं ज्ञेयमित्यभिप्रायः] पुत्राः कन्याश्च इत्यर्थः, (“सूर्खेऽर्भके च बालः स्यात्” इत्यमरः) न संयमिताः,—न निरोधिताः, किन्तु, वियोगिनीभिः,—पतिवियोगविधुराभिः तत्कामिनीभिश्च,—त्वया निर्जितानां रिपूणाम् अङ्गनाभिश्च [प्रयोज्यकर्त्रीभिः] मुहुर्महोपातविधूसराङ्गाः बालाः,—[वल्यते संव्रियते शिरः एभिरिति तथोक्ताः, अन्तःस्थावकारात्मकस्य संवरणार्थस्य भ्वादिगणीयबलधातोः घञा निष्पन्नत्वेन अन्तःस्थात्वमस्य वकारस्य बोध्यम् ; यद्वा बाल्यन्ते—चाल्यन्ते, वायुना ये ते बालाः] केशा इत्यर्थः, (“चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः” इत्यमरः) न संयमिताः,—न

देव ! युष्मद्यशोराशिं स्तोतुमेनं जडात्मकम् ।

उत्कण्ठयति मां भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम् ॥ २३ ॥

चन्द्रेडितं चटुलितस्वरधीतसार-

रत्नासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।

पश्यामि पापतिमिरक्षयकारकाय-

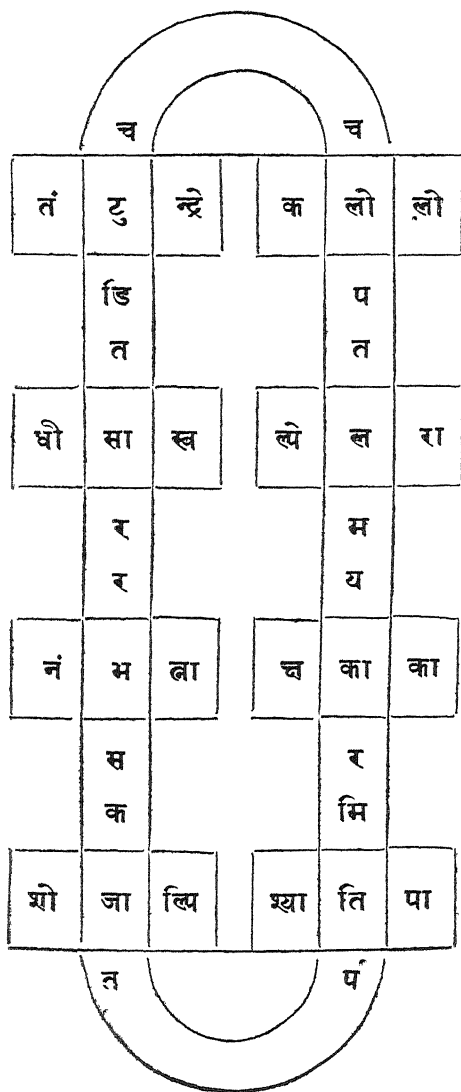
मल्येतरामलतपःकचलोपलोचम् ॥ २४ ॥

बन्धिताः ; त्वमेतावान् सदयः, यत् न केवलं रिपून् विजित्य तदपत्यानि कारायां न निरोधितवान्, अपि तु पतिवियुक्तानां रमणीनां धर्मशास्त्रानुसारेण केशबन्धनादिनिषेधसत्त्वात् तेषां रमणीरपि केशाभयमनरूपं व्रतं समापाद्य रक्षणविच्छेदेन तोषितवानिति भावः । अत्र “बालाः” इति श्लेषे बवयोः अभेदः ॥ २२ ॥

एवं श्लेषे बवयोरभेदमुदाहृत्य डलयोरपि अभेदमुदाहरति, देवेति ।—हे देव !—स्वामिन् !, भक्तिः,—प्रेम, भवद्विषयिणी प्रीतिः इति यावत्, इन्दुलेखा—चन्द्रकला, जडात्मकं—(डलयोरभेदात्) जलम् आत्मा स्वरूपं यस्य सः जडात्मा, जडात्मा एव जडात्मकः तं, जलमयमित्यर्थः, सागरं—समुद्रम् इव, एनं—समीपस्थं, जडात्मकं—जडः ज्ञानेन हीनः आत्मा यस्य तं, जड-स्वरूपं, मूर्खम् इत्यर्थः, मां, युष्माकं यशोराशिं—कीर्तिकलापं, स्तोतुं—वर्णयितुम्, उत्कण्ठयति—उत्सुकयति, प्रेरयति इत्यर्थः, सागररूपे—उत्तमयति इति भावः । अत्र “जडात्मकम्” इति श्लेषे डलयोः ऐक्यम् ॥ २३ ॥

चित्रालङ्कारे डकारलकारयोरभेदमुदाहरति, चन्द्रेडित-मिति ।—कमपि राजानं प्रत्युक्तिरियम् । चन्द्रेडितं—चन्द्रेण ईडितः—स्तुतः, यद्वा चन्द्रः इव ईडितः,—स्तुतः, तं, चन्द्रम् इव सर्वाङ्गादकम् इत्यर्थः, चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनं—स्वः,—

हारबन्धचित्रम् ।

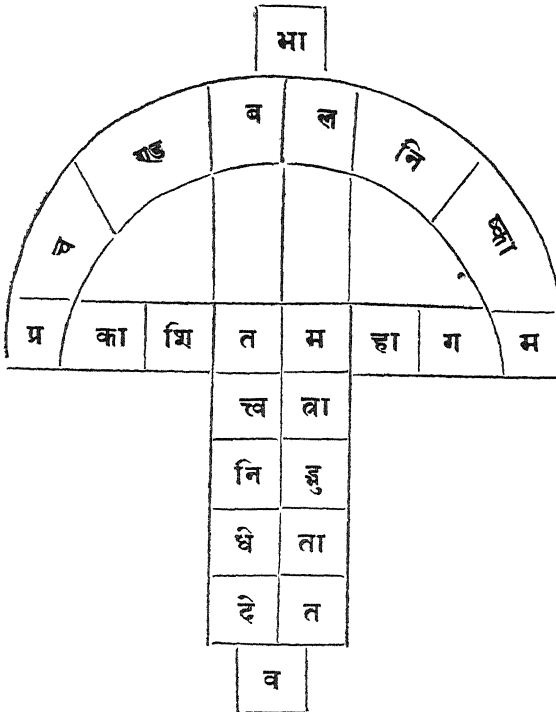


स्वर्गं, अधीतः,—पठितः, सारः,—उत्कर्षः, बलञ्च यस्य सः स्वर-
धीतसारः, इन्द्रः इत्यर्थः, तस्य रत्नासनं—रत्नमयसिंहासनं,
चटुलितं—कम्पितं, येन तथाभूतं, रभसकल्पितशोकजातं—
रभसेन—वेगेन, भटिति इत्यर्थः, (“रभसो वेगहर्षयोः”
इत्यमरः) कल्पितं—जनितं, शोकजातं—दुःखसमूहः, शत्रू-
णाम् इति शेषः, येन तथाविधं, यद्वा,—रभसेन—हर्षेण, प्रेमो-
त्थेन आनन्देनेति यावत्, कल्पितं—खण्डितं, शोकजातं—
दुःखसङ्घः, स्वजनानाम् इति शेषः, तं, (“मात्राविन्दुविसर्गाणां
च्युतकान्यच्चरस्य च । स्थानव्यञ्जनयोश्चापि च्युतदत्ताच्चरं
तथा ॥” इति विदग्धमुखमण्डनोक्तेः अत्र दत्तविन्दुजाति-
त्वात् सानुस्वारः पाठः बोध्यः) पापतिमिरक्षयकारकायं—
पापानि एव तिमिराणि—अन्धकाराः, तेषां क्षयकारः,—
ध्वंसकारो, कायः,—शरीरं, यस्य तथोक्तम्, अल्पेतरं—
प्रभूतं, बहुदीर्घमित्यर्थः, अमलं—निष्कामतया शुद्धसङ्कल्पतया
वा निर्मलं, यत् तपः, तेन कचानां—केशानां, लोपै—कर्त्तने
इति यावत्, लोचः,—दर्शनं, मतिः इति यावत्, यस्य तं,
यावत् एतद्द्वोरं तपश्चरन् स्वेष्टसिद्धिं न करोमि, तावत् केशान्
वपिष्यामि इति कृतनिश्चयम् इत्यर्थः, यद्वा,—कचानां—बन्धानां,
संसारारोधानामित्यर्थः, (“कचः केशे गुरोः सुते ।
बन्धे शुष्कव्रणे पुंसि, करिष्यान्तु कचा स्त्रियाम्” इति मेदिनौ)
लोपं—विनाशं, लोचयति—दर्शयति, तथोक्तं निष्कामदीर्घ-
भगवदाराधनेन भवबन्धनमोचनमनुभवन्तमित्यर्थः, अथवा, कं
—सुखं, चला—लक्ष्मीः, ब्रह्मज्ञानसमृद्धिरित्यर्थः, ते उपलोच-
यति—दर्शयति इति तथोक्तं, भवन्तम् इति ऊह्यं, पश्यामि ।
अत्र हारबन्धचित्रे “चन्द्रेडितम्” इति प्रथमं डकारः, “चटुलित”
इति पुनः लकारः, इत्यनयोः डलयोः ऐक्यम् ॥ २४ ॥

प्रचण्डबल ! निष्काम ! प्रकाशितमहागम ! ।

भावतत्त्वनिधे ! देव ! भालमत्राङ्गता तव ॥ २५ ॥

कृत्रबन्धचितम् ।



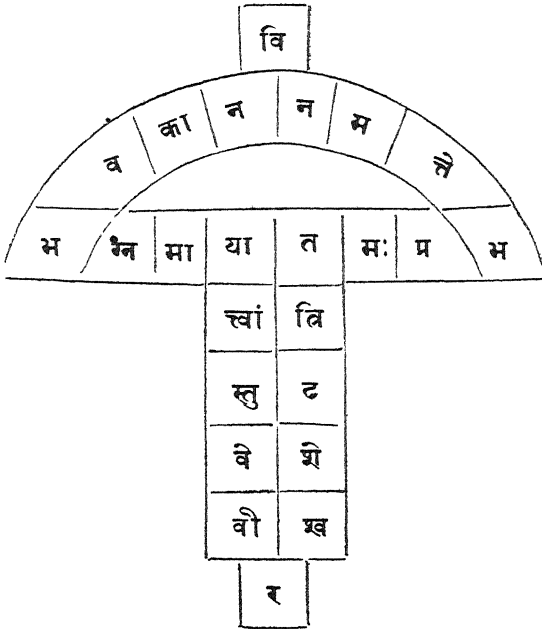
कृत्रबन्धचित्वे बकारवकारयोरभेदमुदाहरति, प्रचण्डेति ।—
 हे प्रचण्डबल !—प्रचण्डं—शत्रोः पराभावकतया भयङ्करं, बलं
 —पराक्रमः, यस्य तत्त्वस्वुद्धौ तथोक्तं, हे निष्काम !—निस्पृह !,
 अर्थलोभशून्येत्यर्थः, यद्वा निष्कष्टः,—अपक्वः, कामः,—कन्दर्पः,
 यस्मात् तत्त्वस्वुद्धौ, रूपसम्पदा न्यक्तमदनेत्यर्थः ; हे प्रकाशित-
 महागम !—प्रकाशितः,—आविष्कृतः, महान् आगमः,—
 शास्त्रम् अर्थोपार्जनपद्धतिश्च, येन तत्त्वस्वुद्धौ ; भावानां—

चित्रे कृत्रवन्धः,—

भवकाननमत्तेभ ! भग्नमायातमःप्रभ ! ।

विनयात् त्वां स्तुवे वीर ! विनतत्रिदशेश्वर ! ॥ २६ ॥

कृत्रवन्धचित्रम् ।



पदार्थानां, तत्त्वं—स्वरूपं, तस्य निधिः,—निलयः, तत्सम्बुद्धौ, सर्वतत्त्वविदित्यर्थः ; यद्वा,—भावः,—हृदयान्तर्वर्त्ती सङ्कल्प-विशेषः, स एव तत्त्वं—रहस्यं, तस्य निधिः तत्सम्बुद्धौ ; देव ! अत्र—संसारे, तव भा—दीप्तिः, प्रभावः इति यावत्, अलम्—अत्यर्थम्, अद्भुता—चमत्कारिणी, वर्त्तते इति शेषः । अत्र कृत्र-चित्रे “बल” इति प्रथमं वकारः, “भाव” इत्यत्र पुनः वकारः इत्यनयोः वर्गान्तःस्थयोः ववयोरैक्यम् ॥ २५ ॥

प्रसङ्गात् कृत्राणां कौतुकनिर्वर्त्तनाय ववयोरभेदमदर्शय-

काव्यनिर्माणकालः,—

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगा-

दध्यासवश्याथपदप्रपञ्चः ।

तं तं विदित्वा समयं कवीनां

मनःप्रसक्तौ कवितां विदध्यात् ॥ २७ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

नपि कृत्रबन्धचित्तमुदाहरति, भवेति ।—कस्यचित् गुरोः
महात्मनी वा स्तुतिरियम् । भवः,—संसारः, एव काननम्
—अरण्यं, तत्र मत्तः,—उद्धतः, मत्त इव इत्यर्थः, निर्भय
इति यावत्, इभः,—गजेन्द्रः, तत्सम्बोधनं, हे भवकानन-
मत्तेभ !—मत्तगजो यथा अरण्यस्थवृक्षराजोमुन्मूलयति, तद्वत्
तत्त्वज्ञानदानेन संसारोच्छेदनिपुण ! इत्यर्थः, यद्वा,—जीव-
न्मुक्ततया काननोपमे संसारे मत्तगजेन्द्रवत् सञ्चरणशील
इति भावः ; हे भग्नमायातमःप्रभ !—भग्ना—नाशिता, माया-
तमसः,—मायारूपस्य (अविद्याऽऽत्मकस्य) अन्धकारस्य,
प्रभा—विकाशः, प्रभाव इत्यर्थः, येन ; यद्वा,—भग्नं—विना-
शितं, मायातमः,—माया,—अविद्या एव, तमः,—तिमिरं, येन,
तथा,—प्रभाति—विद्योतते तेजसेति प्रभः, प्रकृष्टा भा कान्ति-
र्यस्य इति वा, भग्नमायातमाश्चासौ प्रभश्चेति [कर्मधारयसमासः]
तत्सम्बोधनम् ; हे विनतत्रिदशेश्वर !—विनतः त्रिदशेश्वरः,—
देवेन्द्रः, यस्य तत्सम्बुद्धिः ; वीर !—शूर ! विनयात् [ल्यबलोपे
पञ्चमी]—विनयम् अनुसृत्य इत्यर्थः, त्वां—भवन्तं, स्तुवे—
स्तौमि । इदमुदाहरणं केवलं चित्रनिर्माणशक्तिनिदर्शनाय “चित्रे
वयोरैक्यं सम्भवति” इति प्रदर्शनप्रसङ्गविरुद्धत्वात् ॥ २६ ॥

कवितारचनोपयोगिनं समयं निदर्शयति, अधीत्येति ।—

द्वितीयः परिच्छेदः ।

—००५००—

काव्यशरीरमाह,—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।

इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ १ ॥

अभियोगयोगात्—अभिनिवेशवशात्, चित्तैकाग्रेण निरन्तरं परिश्रमं कृत्वेति यावत्, शास्त्राणि—हितानुशासनग्रन्थान्, व्याकरणालङ्कारादीनित्यर्थः, अधीत्य—पठित्वा, अभ्यासेन—तत्तच्छास्त्राणाम् अनुशीलनेन, निर्माणाश्चिन्तापाटवोपादानेनेति यावत्, वश्यः,—वशङ्गतः, आयत्तीकृतः इत्यर्थः, अर्थानाम्—अभिधेयानां, पदानां—सुबन्ततिङन्तानां शब्दानाञ्च, प्रपञ्चः,—समुदायः, यस्य तथाभूतः सन्, कवीनां—प्राचीनकाव्यकर्तृणां इति भावः, तं तं समयं—पूर्वोक्तं सिद्धान्तं, विदित्वा—ज्ञात्वा, मनसः,—चित्तस्य, प्रसक्तौ—प्रसन्नतायां, अशेषसंसार-कार्यचिन्ताऽभावत्वेन निर्मलतायामित्यर्थः, सत्यां, कवितां—काव्यं, विदध्यात्—रचयेत्, कविरिति शेषः ॥ २७ ॥

इति प्रथमपरिच्छेदः ॥ १ ॥

चतुर्विधभाषायाः काव्यशरीरत्वं प्रतिपादयति, संस्कृत-मिति ।—संस्कृत—शास्त्रानुशासनप्रतिपन्नं, सच्चातसंस्काररूपं वा भाषणं, प्राकृतं—संस्कृतस्यापभ्रंशात्मा भाषाविशेषः, तस्य—प्राकृतस्य, अपभ्रंशः,—लक्षणया प्राकृतभाषाव्याकरणशासनानुगतो भाषाविशेषः, तथा भूतभाषितं—पैशाची भाषा इत्यर्थः ; इयमेव भिद्येत्यपरैरुक्ता, तथाहि काव्यादर्शः,

भाषानिरूपणम्,—

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।

प्राकृतं तज्जं तत्तुल्यं देश्यादिकमनेकधा ॥ २ ॥

—“तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा । अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥” इति । इति चतस्रः अपि भाषाः काव्यस्य कायताम्—अवयवत्वं, यान्ति—प्राप्नुवन्ति । उक्ताभिः चतसृभिः भाषाभिः काव्यं विरच्यते इति भावः । एतेन भाषाणां शब्दार्थस्वरूपत्वात् शब्दार्थौ काव्यशरीरमित्यायातम् । तथा चोक्तं दण्डिना,—“शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली” इति । तस्य च अनर्थकत्वादिदोषाः देहस्य काणत्वादय इव अपकर्षकाः । न च दोषरहितस्यैव शब्दार्थस्य काव्यत्वमिति वाच्यं, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तसम्भवात्, सदाप्यपि कव्यत्वाङ्गीकारात्, “अदृष्टमेव तत् कीर्त्तये” “इति दोषविप्रनिषेकैः” इत्यादिवक्ष्यमाणोक्त्या निर्दोषस्य प्रशंसितत्वाच्च । तथा औदार्यादिगुणानामपि उत्कर्षमात्राधायकत्वं, न तु स्वरूपजनकत्वम्, “अदोषावपि” इत्यादि वक्ष्यमाणप्रशंसोक्तेः । तथा चोक्तं विश्वनाथेनापि,—“उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः” इति ॥ १ ॥

संस्कृतादिभाषाचतुष्टयं निरूपयति द्वाभ्यां,—संस्कृतमिति । —स्वर्गिणां—देवानां, भाषा—भाषणं, संस्कृतं, कथ्यते बुधैः इति शेषः ; (अत्र “सा भाषा” इति ऊह्यम्) शब्दशास्त्रेषु—व्याकरणशास्त्रेषु, निश्चिता—निरूपिता (इति एकविधम्) ; प्राकृतं—तदाख्या भाषा, तज्जं—तस्मात्—संस्कृतात्, जातम् इत्यर्थः, तथा तत्तुल्यं—तेन संस्कृतेन तुल्यं, प्रायशः सदृशम् इत्यर्थः, (इति द्वितीयविधम्) ; तथा देश्यादिकं—देशेषु

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।

यद्भूतैरुच्यते किञ्चित् तद्भौतिकमिति स्मृतम् ॥ ३ ॥

काव्यस्य द्वैविध्यमाह,—

कृन्दोनिवद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा ।

पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रञ्च तद्वयम् ॥ ४ ॥

भवं—देश्यं, तत्प्रभृतिकम् इत्यर्थः, अतः अनेकधा—बहुधा, प्राकृतम् इति शेषः ; तथोक्तं काव्यादर्शकृता,—“संस्कृतं नाम देवो वागन्वाख्याता महर्षिभिः । तद्भवस्तत्समो देशोत्थनेकः प्राकृतक्रमः ॥ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकष्टं प्राकृतं विदुः । सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ शौरसेनी च गौडौ च लाटी चान्या च तादृशी । याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥” इति (सेतुबन्धः,—तदाख्यकाव्यग्रन्थ-विशेषः ; यन्मयं—यत्स्वरूपम्) ॥ २ ॥

एवं संस्कृतप्राकृते उक्ता अपभ्रंशं भूतभाषितञ्चाह, अपभ्रंश इति ।—तत्तद्देशेषु—तेषु तेषु कर्णाटादिषु देशेषु, यत् शुद्धम्—अविमिश्रं, साधु इत्यर्थः, भाषितं—भाषणं, सः अपभ्रंशः । भूतैः,—देवयोनिविशेषैः, यत् किञ्चित् उच्यते, तत् भौतिकम् इति स्मृतं—कथितम् । तथोक्तं काव्यादर्शकृता,—“आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः । शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥……आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥” इति (आसारादीनि—आसारादिभिः कृन्दोभिः निवद्धं काव्यमित्यर्थः) ॥ ३ ॥

काव्यस्य पद्यगद्यमयत्वेन भेदावाह, कृन्द इति ।—तत्—प्रसिद्धं, वाङ्मयं—काव्यम् इति भावः, कृन्दोनिवद्धं—कृन्दः—शास्त्रोक्तलक्षणानुगतं, तथा, अच्छन्दः,—कृन्दःशास्त्रलक्षणा-

निर्दोषकाव्यप्रशंसा,—

अदुष्टमेव तत् कीर्त्यं स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।

परिहार्यान्तो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ॥ ५ ॥

अथ पदगतदोषानाह,—

अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहृतार्थमलक्षणम् ।

स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ॥

अनुगतम् इति द्विधा, भवति इति शेषः । उक्तमेव भेदद्वयं विशिष्य निर्दिशति, पद्यमिति ।—आद्यं—कन्दोर्निबद्धं, तत्—वाङ्मयं काव्यं, पद्यम्, अन्यत्—द्वितीयं, कन्दोर्निबद्धाङ्गिन्नमिति यावत्, गद्यम् ; पुनस्तृतीयं भेदमाह, मिश्रमिति ।—तद्वयं—गद्यपद्यात्मकं काव्यं, मिश्रं—मिश्रनामकं, कथ्यते इति शेषः ; अन्ये तु तृतीयभेदं चम्पूरित्याहुः,—तथा चोक्तं,—“गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते” इति ॥ ४ ॥

निर्दोषकाव्यनिर्माणेन यश इति निर्दोषमेव काव्यं निर्मेयमित्युपदिशन् तस्य दोषज्ञानमन्तरा अशक्यतया तानेवादौ वक्तुं प्रतिजानीते, अदुष्टमिति ।—अदुष्टं—दोषरहितं, तत्—काव्यं, कीर्त्यं—यशसे, तथा स्वर्गसोपानपङ्क्तये, भवति इति शेषः ; अतः निरुक्तकारणात्, परिहार्यान्—परित्याज्यान्, तान्—अलङ्कारशास्त्रप्रसिद्धान्, दोषान् एव आदौ—प्रथमतः, प्रचक्ष्महे—कथयामः ॥ ५ ॥

यद्यपि सामान्यलक्षणानन्तरमेव विशेषाणां निरूपणमुचितं, तथापि दोषपदस्य स्फुटार्थत्वेन योगबलादेव सामान्यलक्षणपरिज्ञानात् तदप्रतिपाद्यैव विशेषा दर्शिताः । तथाहि काव्यं दुष्यति विकृतं भवत्यनेनेति व्युत्पत्त्या ‘दुष्-वैकृत्ये’ इत्यस्य कारणवशा दोषपदं सिद्धम् । प्रकाशकज्ञिस्तु “मुख्यार्थवृत्ति-

ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।

क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ॥ ६ ॥

दोषः” इत्यनेनास्य भावघञन्तता दर्शिता । इह वैकृत्यञ्चाप-
कृतत्वं ततश्च काव्यस्यापकर्षोऽपकर्षको वा दोष इति सामान्य-
लक्षणम् । अपकर्षश्च क्वचित् पदस्य, क्वचित् वाच्यस्य, क्वचि-
दर्थस्य इति । त्रितयवृत्तितया तेषां त्रिविधत्वं बोध्यम् ।
ते के ? इत्याह, अनर्थकमिति ।—अनर्थकं,—निरर्थकं,
श्रुतिकटु—श्रवणकर्कशं, व्याहृतार्थं—व्याहृतः अर्थो यत्र
तादृशम्, अलक्षणम्—अनुशासनविरुद्धम् इत्यर्थः, स्वसङ्केत-
प्रकृतार्थं—नेयार्थमित्यर्थः, अप्रसिद्धम्, असम्मतं, तथा ग्राम्यञ्च
यत् पदं प्रजायेत, तत् पदं न प्रयुज्यते—न व्यवह्रियते, (अत्रान-
र्थकमित्यादीनां नपुंसकत्वात् पदमेव विशेष्यं तत्रानर्थकत्वादि-
सम्बन्धश्च क्वचित् साक्षात् क्वचित् परम्परया च बोध्यः) क्वचित्
च एषाम्—उक्तानां दोषाणाम्, अपदोषता—निर्दोषता,
अपि विद्वद्भिः,—काव्यज्ञैः, इष्टा—अभिलषिता ।

अत्रेदं बोद्धव्यम्,—अनर्थकत्वं, श्रुतिकटुत्वं, व्याहृतार्थत्वम्,
अलक्षणत्वं, नेयार्थत्वम्, अप्रसिद्धत्वम्, असम्मतत्वं, ग्राम्यत्वञ्चेति
पदगताः अष्ट दोषाः क्वचित् प्रयोज्याः, तदन्यतरदुष्टं पदन्तु न
प्रयोज्यम् । तथोक्तं चित्रमीमांसाकारैः,—“अनर्थक्यं दुःश्रवत्वं
व्याहृतार्थत्वमेव च । निर्लक्षणत्व-ग्राम्यत्वे नेयार्थत्वं ततः
पुनः” ॥ अप्रसिद्धार्थतादोषः पदस्यासम्मतार्थता ॥” इति । एते
च न सर्वे सर्वत्र दूषिताः, किन्तु दुष्टतामपहायैव क्वचित् पुनः
गुणतामपि प्रपद्यन्ते ; अत एव प्रकाशकतोक्तं,—“वक्ताद्यौचित्य-
वशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ” इति । अत्र को
दोषः ? कुत्र निर्दोषः ? कुत्र गुणः ? क्व पुनः दोषगुणत्वोभय-

शून्यः ? तत्रोक्तं रसगङ्गाधरकृता,—“निरर्थकत्वं यो दोषः संश्लेषे गुणतां व्रजेत् । वक्तरि क्रोधसंयुक्ते नो दोषो न गुणः पुनः ॥ न दोषः प्रमदोक्तौ च दुःश्रवत्वं भवेद्गुणः । रौद्रे व्यङ्ग्ये तथा वाच्ये रुद्रे मत्ते च वक्तरि ॥ नेयार्थत्वं नित्यदोषो ग्राम्यत्वं तु गुणोऽधमे । वाच्ये वक्तरि वाऽपि स्यात् नो गुणश्च विदूषके । व्याहृतार्थत्वदोषः स्यात् प्राज्ञे वाच्ये च वक्तरि । मूढे वक्तरि नो दोषो मूर्च्छादौ तु गुणो भवेत् ॥ अप्रसिद्धार्थता बाले गुणो वक्तरि चोद्धते । सुरतारम्भगोष्ठ्यादेर्वर्णने नो गुणोऽगुणः । असम्मतार्थता नीचे कुपिते वाऽपि वक्तरि । गुणः स्यादथ बीभत्से न दोषो न गुणस्तथा । हतलक्षणता मूढे मत्ते नीचे च पीडिते । गुणो वक्तरि दोषत्वाभावतामेति मायिके ॥” इति ।

यद्यपि प्राचीनैः पददोषाणामष्टविधत्वं प्रतिपादितं, साहित्यदर्पणकृदादिभिः नवीनैः पुनः षोडशसङ्ख्यायां ते एव प्रपञ्चिताः ; तथा हि,—“दुःश्रवत्त्रिविधाश्लोलाऽनुचितार्थाऽप्रयुक्तार्ताः । ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता । अविसृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदेऽपरे । निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥” इति । तथाऽपि उक्ताष्टविधेष्वेव नवीनोक्तषोडशविधानामन्तर्भावसम्भवात् तादृशमेदकल्पनं केवलं विशोर्नामसहस्रकीर्तनवत् प्रपञ्चनमात्रमित्यष्टविधत्वाङ्गीकार एव ज्यायानिति मन्यामहे । तथा हि,—ग्राम्यत्वदोषेणैव त्रिविधाश्लोलस्यापि परिग्रहसम्भवात् किं पक्षवितेन इति मन्यमानाः प्राञ्चः “यदनुचितं पदं तदेव ग्राम्यम्” इत्येवं लक्षणं विदधुः ; तेन—“दृष्टारिविजये राजन् ! साधनं सुमहत्तव ।” “प्रससार शनैर्वायुर्विनाशि तन्वि ! ते तदा ॥” इत्यादौ त्रिविधाश्लोलोदाहरणेष्वपि—साधन-वायु-विनाश-शब्दानां क्रमेण त्रीडा-

जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकतया तादृशपदप्रयोगः काव्ये नोचित इति ग्राम्यत्वदोष एव ; तथा अप्रयुक्तताऽप्रतीतत्वदोषयोरपि असम्मतत्वदीर्घेणैव परिग्रहसम्भवः ; तथाहि, नवीनानामप्रयुक्ततोदाहरणे—“भाति पद्मः सरोवरे” इत्यत्र पद्मशब्दस्य उभयलिङ्गत्वेऽपि पुंसि कवीनां व्यवहाराभावात् तस्मिन् प्रयुक्तत्वादप्रयुक्तत्वम् । अप्रतीतत्वोदाहरणे “योगेन दलिताशयः” इत्यत्र च योगशास्त्रे एव वासनार्थे प्रसिद्धस्य आशयशब्दस्य काव्यादौ प्रयोगात् अप्रतीतत्वम् । इह प्राचां मते तु उभयत्रापि शक्तार्थस्य सार्वत्रिकव्यवहाराभावात् तत्पदप्रयोगेण असम्मतत्वदोष एव ; तथा क्लिष्टत्वोदाहरणे,—“क्षीरोदजावमतिजन्मभुवः प्रसन्नाः” इत्यादौ अर्थावबोधस्य व्यवधानोपस्थाप्यत्वात् क्लिष्टत्वम् इति नव्याः, प्राचां मते तु एतादृशस्य शक्तार्थस्यापि सर्वप्रामाण्यसम्मतत्वेन असम्मतत्वं दोषः । एवं निहतार्थतोदाहरणे “यमुनाशस्वरमम्बरं व्यतानीत्” इत्यत्र दैत्ये प्रसिद्धस्य शस्वरशब्दस्य अप्रसिद्धजलरूपार्थे प्रयोगात् निहतार्थता । असमर्थतोदाहरणे च,—“कुक्षं हन्ति क्षोदरी” इत्यत्र गमनार्थे अप्रसिद्धस्य हन्धातोः तत्रार्थे प्रयोगादसमर्थत्वमिति नवीनानां मतम् । इह तूभयत्रापि प्रसिद्धभावनिबन्धनस्य अप्रसिद्धत्वदोषलक्षणस्य प्रवेशात् अप्रसिद्धत्वदोष एव ; तथा अवाचकत्वोदाहरणे,—“दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनी” इत्यत्र सूर्यकिरणावच्छिन्नयामचतुष्टये सङ्केतितस्य दिनशब्दस्य लक्षणया प्रकाशमयार्थे प्रयुक्तत्वाद्वाचकत्वम् । नैयार्थत्वोदाहरणे च,—“कमले चरणाघातं सुखं सुमुखि ! तेऽकरोत्” इत्यत्र चरणाघातपदस्य घादप्रहारे सङ्केतितत्वात् लक्षणया निज्जितार्थप्रतीतिः नैयार्थता इति नव्यमतम् ; इह उभयत्र लक्ष्यार्थप्रकाशकत्वसाध्यात् स्वसङ्केतप्रकृता-

सीदाहरणमनर्थकमाह,—

प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत् तदनर्थकमुच्यते ।

यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ॥ ७ ॥

र्थतादोषः । एवं विरुद्धमतिकारितादोषोदाहरणे,—“भूतयेऽस्तु भवानोशः” इत्यत्र भवस्य पत्नी भवानौ, तस्याः ईशः भवानीशः, इति भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिः विरुद्धमतिकारिता । अनुचिता-
र्थत्वोदाहरणे च—“शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे”
इत्यत्र पशुपदेन शूरत्वप्रतिकूलकातरत्वावगमादनुचितार्थत्वम् ।
तथा “आशीःपरम्परां वन्द्याम्” इत्यत्र सन्दिग्धतोदाहरणे—
“वन्द्याम्” इति किं “वन्दीभूतायाम्” उत “वन्दनीयाम् ?”
इति सन्देहावगमात् सन्दिग्धत्वमिति नवीनमतम् । इह च
क्रमेण पत्यन्तर-कातरत्व-वन्दीरूपाणामभिप्रेतार्थप्रतिबन्धका-
परार्थानां प्रतीतिः व्याहृतार्थत्वदोष एव ; तथा अलक्षणत्वेन
च्युतसंस्कारतायाः । एवं “अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्”
इत्यादिशब्दशास्त्रलक्षणहीनत्वेन विधेयाविमर्षस्य च परिग्रहः ।
श्रुतिकटु-दुःश्रवत्वयोः अनर्थक-निरर्थकत्वयोश्च नाममात्रप्रभेदात्
भेदो न दशितः ; तस्मात् नास्त्रैकेन फलसिद्धावापि किमवान्तर-
भेदकल्पनपुरःसरं बहुनामकीर्तनेनेति बोध्यम् ॥ ६ ॥

क्रमादेतान् सीदाहरणान् अनर्थकादिपददोषान् लक्ष-
यितुं प्रवृत्तस्तत्र तावत् अनर्थकाख्यं पददोषं श्लोकार्जेन लक्षयति,
प्रस्तुते इति ।—प्रस्तुते—प्रकृते, यत्—पदम्, अनुपयुक्तम्—उप-
योगरहितं, तत् अनर्थकम् उच्यते ; काव्ये तीदृशपदप्रयोगश्चेत्
तदाऽनर्थकदोष इति भावः । तमेव दोषमपराङ्मन उदा-
हरति, यथेति ।—यथेति उदाहरणप्रदर्शनार्थकम् ; एवं
सर्वत्र वक्ष्यमाणदोषोदाहरणेषु उक्तस्य यथाशब्दस्यार्थो बोध्यः ।

सोदाहरणं श्रुतिकटुं ग्राह, —

निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटुं स्मृतम् ।

एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्ट्रेयं निर्मिता यथा ॥ ८ ॥

अहं लम्बोदरं विनायकं—गणपतिं, वन्दे—प्रणमामि ।
अत्र “लम्बोदरम्” इति, “हि तु” इति पदद्वयञ्च निर-
र्थकम् । अत्रानर्थकपदञ्च प्रकृतानुपयुक्तार्थकपदपरं पाद-
पूरणमात्रप्रयोजनकचादिपदपरञ्च बोध्यम् । तत्राद्ये लम्बोदर-
पदरूपोदाहरणे तादृशार्थचिन्तनेन शाब्दबोधविलम्बनम् ;
द्वितीये “हि तु” पदोदाहरणे च निरर्थकपदवद्वाक्यप्रयोक्तृत्व-
ज्ञानेन तदीयवाक्यादेवविषयकभावे प्रकर्षविधातो दूषकता-
बोजम् । अतश्च मतान्तरोक्तः निरर्थकत्वदोषः वाक्यगताधिक-
पदतादोषश्च अनेनैव गृहीतः इति भावः ॥ ७ ॥

श्रुतिकटुं लक्षयति, निष्ठुरेति ।—अत्यन्तं निष्ठुराक्षरं—
निष्ठुराणि—क्लिष्टोच्चारितानि, अक्षराणि—वर्णाः, यत्र तत्,
कर्कशवर्णवत् पदमित्यर्थः, बुधैः,—पण्डितैः, श्रुतिकटुं—अवगणे-
न्द्रियकर्कशत्वात् श्रुतिकटुनामकं दुष्टमित्यर्थः, स्मृतं—कथितम् ।
एतेन श्रोतॄणां श्रोत्रावच्छेदेन दुःखजनकत्वं श्रुतिकटुत्वं दोषः
इति समाधानम् । तत्र च कर्कशैकवर्णजन्यकटाक्षरदोषतैव
श्रुतिदुःखदायित्वस्य बीजस्य एकवर्णेऽननुभवात् ; तथा माधुर्य्य-
बुभुक्षासत्त्वे एव च श्रुतेर्दुःखावहत्वात्, तद्विरहितेषु वीररीद्र-
वीभर्त्सरसिषु न श्रुतिकटुत्वं दोषः, किन्तु शृङ्गारादावेव इत्यपि
बोध्यम् । उदाहरति, एकाग्रेति ।—यथा स्रष्ट्रा—विधात्रा,
एकाग्रमनसा—अभिनिविष्टेन चित्तेन, इयं, नारी इति शेषः,
निर्मिता—स्रष्ट्रा, इति मन्ये । अत्र सकाररेफकारटकारादी-
नामेकयोगाच्चिष्ठुराक्षरत्वम् ; अतः “स्रष्ट्रा” इति पदं श्रुतिकटुं ;

सीदाहरणं व्याहृतार्थमाह,—

व्याहृतार्थं यदिष्टार्थबाधकार्यान्तराश्रयम् ।

रतस्त्वमेव भूपाल ! भूतलोपकृतौ यथा ॥ ६ ॥

स्वाश्रयपदसम्बन्धित्वेन प्रत्यासन्नस्य शृङ्गाररसस्य माधुर्यप्रतीति-
प्रतिबन्धकता एव दूषकताबीजम् । ततश्च मतान्तरोक्तदुःश्रवत्वे-
नास्याभेदः बोध्यः । तथा दोषाणामेतेषां पदगतत्वं वाक्यगत-
त्वञ्च “पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि” इति
वक्ष्यमाणलक्षणेन प्रतिपादितम् ; ततश्च नवीनैरुक्तानां प्रति-
कूलवर्णना-सम्बिकष्टता-लुप्ताहृतविसर्गताख्यानां वाक्यदोषाणां
वाक्यगतश्रुतिकटुत्वेन परिग्रहः, तथाविधे बहुशः प्रयोगे सति
स्वाश्रयवाक्यसम्बन्धित्वेन श्रोतृवैरस्यापादकतया प्रत्यासन्नरस-
प्रकर्षप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वादवगन्तव्यः । वाक्यगतश्रुतिकटुत्वस्य
उदाहरणान्तरं यथा,—“स्मरार्थ्यन्धः कदा लप्से कात्तार्थ्यं
विग्रहे त्व” इति ॥ ८ ॥

पूर्वाङ्गेन व्याहृतार्थं लक्षयति, व्याहृतार्थमिति ।—यत्,
पदमिति शेषः, इष्टस्य—अभिप्रेतस्य, विवक्षितस्येति यावत्,
अर्थस्य—प्रतिपाद्यस्य, बाधकम्—अप्रत्यायकं, अर्थान्तरम्—
अपरमर्थम्, आश्रयति—अवलम्बते इति तथाभूतं, स्वाभिप्रेत-
विरुद्धान्यप्रतीतिरुक्तमिति यावत्, तत् व्याहृतार्थं—तदाख्यं दुष्ट-
मित्यर्थः, (एवं रीत्या सर्वत्र दोषाभिधायकपदेन पदमित्य-
स्यान्वयः) कथ्यते इति शेषः । उदाहरति, रत इति ।—यथा हे
भूपाल !—राजन् !, न तु अन्यः किन्तु त्वम् एव, (इत्येवकारार्थः)
भूतलोपकृतौ—भूतलस्य—जगतः, उपकृतिः,—उपकारः तस्यां,
रतः,—आसक्तः, असि इति शेषः । अत्र “भूतलोपकृतौ” इत्य-
नेन भूतानां—प्राणिनां, लोपः,—नाशः, तस्य कृतिः,—करणं,
तत्र, इति विरुद्धं प्रतीयते इति व्याहृतार्थम् ; विरुद्धत्वञ्चात्र प्रति-

सीदान्तरणमलक्षणमाह,—

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत् तदलक्षणमुच्यते ।

मानिनोमानदलनो ययेन्दुर्विजयत्यसौ ॥ १० ॥

पादार्थोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वम्, अत्र प्रतिपदस्यातथात्वेऽपि पद-
द्वयसमभिव्याहारवशात् तथात्वप्रतीतिः बोध्या । एवञ्च तस्मिन्
नवीनोक्तानां सन्दिग्धत्वानुचितार्थत्व-विरुद्धमतिकारित्वामत-
परार्थत्व-परिपन्थिरसाङ्गपरिग्रहत्वदोषाणामन्तर्भावो बोध्यः ।
तत्र च प्रथमोक्तानां त्रयाणां पदमात्रगतत्वं तदनन्तरोक्तस्य च
वाक्यगतत्वं शेषोक्तस्य च रसगतत्वमिति च बोध्यम् ॥ ८ ॥

अलक्षणं लक्षयति, शब्देति ।—यत्—पदं, शब्दशास्त्रस्य—
व्याकरणादेः, विरुद्धं—नियमानुकूलं, तत्—पदम्, अलक्षणम्
उच्यते । व्याकरणलक्षणहीनं पदम् अलक्षणाख्यं दुष्टं कथ्यते इति
पर्यवसितार्थः । तादृशपदानामसाधुत्वज्ञानेन शब्दबोधविघ-
टनमेव दूषकताबीजम् । उदाहरति, मानिनीति ।—यथा असौ
इन्दुः,—चन्द्रः, मानिनीनां—मानवतीनां, नायिकानामिति
शेषः, मानस्य—प्रियं प्रति प्रणयकोपस्य, दलनः,—विध्वंसकः
सन्, विजयति—जययुक्तो भवतीत्यर्थः, मानिनीमानखण्डना-
दिति भावः । अत्र “विजयति” इति [विपूर्वात् जयतेः
“विपराभ्यां जेः” (१।३।१८ पा०) इति सूत्रेण] आत्मने-
पदस्यानुशिष्टत्वात् परस्मैपदप्रयोगः तन्नियमविरुद्धः, इति अल-
क्षणम् । ततश्चैतस्मिन्नेव च्युतसंस्कारत्वस्य पदवाक्यगताविमृष्ट-
विधेयांशत्वस्य च नव्योक्तदोषस्यान्तर्भावः करणीयः । अविमृष्ट-
विधेयांशभावे शब्दशास्त्रविरुद्धत्वञ्च “अनुवाद्यमनुक्तैव न विधेय-
मुदौरयेत्” इत्यभियुक्तोक्त्या उद्देश्यविधेयताशालिवोधे विधेय-
वाचकप्राग्वर्त्युद्देश्यवाचकपदजन्योपस्थितिः कारणमित्युद्देश्य-
विधेययोः पौर्वापर्यभावस्य नियमितत्वात् तल्लङ्घनमेव । पदा-

सीदाहरणं स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थमाह,—

स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।

यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्वानरध्वजैः ॥ ११ ॥

र्थानां मध्ये विधेयांशस्योपादेयत्वेन प्राधान्यात् तस्य प्राधान्येन निर्देश एवोचित इति भावः । तद्विपर्ययश्च क्वचित् समासेन क्वचित् उद्देश्यविधेयपदयोः पौर्वापर्यविपर्ययेण, तत्राद्ये पद-
दोषत्वं, द्वितीये वाक्यदोषत्वमिति विभाव्यम् ॥ १० ॥

पूर्वार्द्धेन स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थं लक्षयति, स्वसङ्केतेति ।—प्रक-
रणवशादत्र “यत् पदम्” इति पूर्वतः समाकृत्य अध्याहृतेन
“तत्” इत्यनेन च सम्बन्धः कल्पनीयः । तैतच्च—यत्—पदं
नेयार्थान्तरवाचकमित्यर्थो लभ्यते ; नेयस्य—लक्ष्यस्य, न तु
अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यस्य इति भावः, अर्थान्तरस्य—अपरार्थस्य,
वाचकम्—अभिधायकं, तत्—पदं, स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थं—तदाख्यं
दुष्टं, कथ्यते इति शेषः ; अयं भावः,—“निरुद्धा लक्षणाः
काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चि-
न्नैव त्वशक्तितः ॥” इति प्राचीनैरुक्तम् । अस्यार्थः,—काश्चित्
लक्षणाः निरुद्धाः,—प्रसिद्धाः, ताश्च बोधकतारूपात् साम-
र्थ्यात्, अभिधानवत्—अभिधातुल्याः, काश्चित् साम्प्रतं क्रियन्ते,
सम्बन्धप्रयोजनोपस्थितिवशात् इति शेषः ; काश्चित् सम्बन्ध-
प्रयोजनरूप्यभावेऽपि वक्ता स्वाशक्तितो नैव क्रियन्ते इत्यर्थः ।
एवञ्च,—उक्तलक्षणाहेतुभूतमुख्यार्थबाधस्य रूढिप्रयोजनैक-
तरस्य मुख्यार्थसम्बन्धस्य च उपस्थितौ एव लक्षणा स्वीक-
र्तव्या, अथ तेषाम् एकस्याप्यभावे या लक्षणा, तद्विशिष्टं
पदं स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थम् ।—स्वस्य—आत्मनः, सङ्केतेन—अभि-
प्रायेण, प्रकृतः,—रचितः, कल्पित इति यावत्, अर्थः,—प्रति-
पाद्यवस्तु, यत्र तत् इति व्युत्पत्तिलभ्यार्थेनैव एतदर्थलाभ

इति सुधीभिर्विभाव्यम् । अत एव दर्पणे,—“नेयार्थत्वं—
रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्” इत्युक्तम् ।
उदाहरति, यथेति ।—यथा अयं शैलः,—पर्वतः, पुष्पितैः,—
सञ्जातकुसुमैः, वानरध्वजैः,—अर्जुनवृक्षैः, विभाति—राजते ।
अत्र वानरध्वजशब्दः पाण्डवे “अर्जुने” एव सङ्केतितः, न त्वर्जुन-
वृक्षे ; पाण्डवस्य पुष्पितत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य पुष्पितैरित्यनेन
अन्वयानुपपत्तिः । ततश्च वानरध्वजपदेन लक्षणाया अर्जुन-
वृक्षापस्थितिः, सा च लक्षणा रूढिप्रयोजनशून्या इति कवेर-
शक्तिकृता स्वसङ्केतमात्रमूलैव इति दोषः । अत्र प्रथमतः रूढि-
प्रयोजनव्यतिरेकनिश्चयेन कवेरशक्तिनिश्चयः, ततो लक्ष्यार्थाप-
स्थितिः, ततः शाब्दबोधः, इति तद्विलम्बेनैव रसबोधविलम्बनं
दूषकताबीजम् । तथाचैतस्मिन्नेव नवानानां नेयार्थत्वावाचक-
त्वयोरनुप्रवेशो बोध्यः । इह अवाचकत्वानुप्रवेशबीजन्तु लक्ष-
णाङ्गोक्तिमेव, तथाहि “गीतेषु कर्णमादत्ते” “दिनं मे त्वयि
सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनौ” इत्यादौ अवाचकत्वोदाहरणे
मुख्यार्थबाधाल्लक्षणां विना गत्यन्तराभावात् लक्षणेवाङ्गाकृता,
‘दिनम्’ इत्यादौ दिनपदस्य सूर्यकिरणवच्छिन्नयामचतुष्टये
अभिधा, प्रकाशमयार्थं तु लक्षणा । केचिदत्र प्रकाशार्थं दिन-
पदस्यान्यत्वापि प्रयोगदर्शनाद्रूढिमूला प्रकाशातिशयप्रतीति-
प्रयोजनमूला वा लक्षणेयमिति मन्यमानाः नेयार्थात् अस्यै-
भेदमङ्गीकुर्वन्ति, तत्र प्रमाणाभावात् प्राञ्चः तन्नेच्छन्तीति
स्वसङ्केतप्रकृतार्थत्वमेव । अस्य वाक्यगतोदाहरणं यथा,—
“नमन्नृपतिमण्डलोमुकुटचन्द्रिकादुर्दिनस्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदो-
क्तदोःसम्पदा । अनेन सृजतेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रमत्तुरङ्गखर-
चन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी ॥” अत्र हि चन्द्रिकादुर्दिनशब्दयोः
यथाक्रमं किरणच्छन्नयोर्वाचकत्वादोषत्वम् ॥ ११ ॥

सीदाहरणमप्रसिद्धमाह,—

यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा ।

राजेन्द्र ! भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् ॥ १२ ॥

अप्रसिद्धं लक्षयति, यस्येति ।—यस्य—पदस्य, यस्मिन्नर्थे इति शेषः प्रसिद्धिः,—व्यवहारः, प्रयोग इत्यर्थः, नास्ति, यत्तार्थं पठ्यते तत्र शक्तस्यापि यस्य तदर्थे शिष्टप्रयोगो न दृश्यते इति यावत्, तत् अप्रसिद्धं विदुः । उदाहरति, यथेति ।—यथा, हे राजेन्द्र !—नराधिपपते ! भवतः कीर्तिः,—यशः, चतुरः वारिधीन्—समुद्रान्, हन्ति—गच्छति । अत्र “हन्ति” इति हन् धातुः “हन् हिंसागत्योः” इति उभयार्थे पठितोऽपि वधार्थ एव प्रसिद्धः, न तु गमनार्थे, इति तत्र प्रयोगात् अप्रसिद्धत्वम् । काव्यप्रकाशकारादयस्तु दोषमिममसं-मर्थाख्यमाहुः । हन् धातोर्गमनार्थेऽप्रसिद्धत्वे यदुक्तं काव्यालङ्कार-कारैः उद्भटपादैः,—“शास्त्रकारैः समान्नातमपि ख्यातिहतं तु यत् । तन्न जातु प्रयुञ्जीत हन्तीति गमने यथा ॥ पोषणे च दधातीति विधाने विक्रान्ति च । खतलञ्च यथाऽऽकाशे यथोक्तौ वृकतीति च ॥” इति । ततश्चैतस्मिन्नेव नवीनोक्तयोरसमर्थत्व-निहतार्थत्वदोषयोरन्तर्भावः करणीयः । तथाच पदार्थोपस्थिति-दशायामविवक्षितस्य प्रसिद्धार्थस्योपस्थित्या विवक्षिताप्रसि-द्धार्थोपस्थितिविलम्बनेन रसविलम्बनमत्र दूषकताबीजमवधेय-मिति दिक् । अस्य वाक्यगतत्वमपि सम्भवति ; तत्रोदाहरणं यथा, — “ सायकसहायबाहोर्मकरध्वजानियमितक्षमाऽधिपतेः अजरुचिभासुरस्ते भातितरामवनिप ! श्लाकः ॥” इति । अत्र सायक-मकरध्वज-क्षमाऽजरुचि-श्लोकशब्दाः शर-मदन-सहिष्णुता-कमल-पद्यानामेव वाचकाः प्रसिद्धाः करवाल-सागर-धरणी-चन्द्र-यशसां वाचकतया प्रयुक्ता इति अप्रसिद्धत्वदोषः ॥ १२ ॥

सौदाहरणसम्मतमाह,—

शक्तमप्यर्थमाख्यातुं यन्न सर्वत्र सम्मतम् ।

असम्मतं तमोऽम्भोजं चालयन्त्यंशवो रवेः ॥ १३ ॥

सौदाहरणसम्मतमाह,—

यद् यवानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा ।

क्वादयित्वा सुरान्पुष्पैःपुरो धान्यं क्षिपाम्यहम् ॥ १४ ॥

असम्मतं लक्षयति, शक्तमिति।—यत्—पदम्, अर्थम्—अर्थ-विशेषम्, आख्यातुम्—अभिधातुं, शक्तं—समर्थम्, अपि सर्वत्र—सर्वस्मिन् शास्त्रे, न सम्मतं—न अभिमतं, काव्यान्तरेषु यस्य अर्थविशेषबोधकता नेष्टा इत्याशयः, तत् असम्मतं, कथ्यते इति शेषः । तथा च,—कव्यनाट्यतत्त्वज्ञानाच्च तदास्वादप्रकर्षविधातोऽत्र दूषकताबीजम् । नन्वप्रसिद्धदोषस्यापि सर्वत्राप्रसिद्धार्थत्वम्, अस्यापि तथात्वे कथं लक्षणद्वयमिति नाशङ्कनोयम्; यस्य पदस्य सर्वथा प्रयोगाभावो दृश्यते, तदप्रसिद्धं, यस्य च विरलप्रयोगः तदसम्मतम् इत्यनयोर्भेदः । उदाहरति, तम इति।—यथा रवेः,—सूर्यस्य, अंशवः,—किरणाः, तमोऽम्भोजं—तिमिरपङ्कं, चालयन्ति—नाशयन्ति इत्यर्थः । अत्र अश्वसः जायते इति व्युत्पत्तेः कर्दमकमलार्थयोः प्रतीती अपि अम्भोजशब्दः कमले एव योगरूढः, न तु कर्दमे कस्यापि सम्मतिः इति असम्मतम् । उक्तञ्च काव्यालङ्कारे,—“न रूढेर्योगशक्तिः स्यादस्या रूढिस्तु हारिणी । योगशक्तिं समाश्रित्य प्रयुञ्जानः पतत्यधः ॥ तस्माद्भूढिर्बलवती श्लेषोदौ तु क्वचिद्बुधाः । अपि योगमाद्रियन्ते तथाऽपि रूढिरुत्तमा ॥” इति । एतस्मिन्नेव च नवीनोक्ताः अप्रयुक्तात्वाऽप्रतीतत्व-क्लिष्टत्वदोषा अनुप्रवेशनीयाः ॥ १३ ॥

ग्राम्यं लक्षयति, यदिति।—यत्र—यस्मिन् देशे यस्यां

अथ वाक्यमात्रदोषकथनोपक्रमः,—

पदात्मकत्वात् वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तन्न हि ।

अपदस्थास्तु ये वाक्यदोषास्तान् ब्रूमहेऽधुना ॥१५॥

भाषायां वा, यत्—पदम्, अनुचितं—वक्तुमयुक्तं, तत्र—तस्मिन्
देशे तस्यां भाषायां वा, तद्धि—तदेव पदमित्यर्थः, ग्राम्यं—ग्राम्य-
दोषदुष्टं, स्मृतं—कथितम् ; हालिकसाधारणप्रसिद्धार्थकपदं
ग्राम्यमित्यभिप्रायः । उदाहरति, यथेति ।—यथा अहं पुष्पैः
सुरान्—देवान्, छादयित्वा—आच्छाद्य, सम्पूज्य इत्यर्थः, पुरः,
—अग्रतः, धान्यं क्षिपामि—निर्वपामि । अत्र “छादयित्वा”
“धान्यं” “क्षिपामि” इति पदत्रयं हालिकपुरुषप्रयुक्तपदवत्
सुधीजनप्रयोगायोग्यमिति ग्राम्यम् । एवञ्च ग्राम्यवक्तृकत्वज्ञाना-
दव रसप्रकर्षबोधविघातो दूषकताबोजम् । इदं नौचानां वक्तृत्वे
तु युज्यत एव, अत एव काव्यालङ्कारकतोक्तम्,—“अधमानान्तु
वक्तृत्वं गुणो ग्राम्यत्वमीप्सितः” इति । अनेनैव नवीनोक्तानां
त्रिविधानामपि अश्लीलत्वदोषाणां सङ्ग्रहः करणीयः, तेषामपि
भाषागतानौचित्यप्रतीतिः । एतेषां वाक्यगतत्वमपि यथायथं
सम्भवत्येव ; तत्र वाक्यगतनवीनोक्तसन्ध्यश्लीलत्वं यथा,—
“वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः । अयमुड्डीयते पक्षी
ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥” इति, इह तु वाक्यगताग्राम्यत्वमेव इति
सुधीभिश्चिन्तनीयम् ॥ १४ ॥

एवं पदमात्रगतान् दोषान् अभिधाय वाक्यमात्रगतान् अपि
तान् अभिधातुं प्रतिजानीते, पदात्मकत्वादिति ।—वाक्यस्य—
पदसमूहस्य, पदात्मकत्वात्—पदसमुदायविशेषस्वरूपत्वात्,
तद्दोषाः,—पददोषाः, तत्र हि—तत्र एव, वाक्ये एव इत्यर्थः,
सन्ति—भवन्ति । वाक्यस्य पदसमुदायरूपत्वेन एकपदगतो

वाक्यदोषानाह,—

खण्डितं व्यस्तसम्बन्धमसम्मितमपक्रमम् ।

कन्दोरीतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ॥ १६ ॥

दोषः पदं दूषयन् वाक्यमपि दूषयति इति पददोषवाक्यदोषयो-
रभेद एव इति भावः । पूर्वोक्ता दोषास्तु पददोषसजातोया
वाक्यदोषाः, तद्विजातीयाः अपि केचित् वाक्यदोषाः प्रदर्श्यन्ते ;
अतः आह,—अपदस्था इत्यादि । अधुना—सम्प्रति, ये तु अप-
दस्थाः,—पदाश्रयेण न स्थिताः, वाक्यदोषाः,—वाक्यमात्रगता
दोषाः, तान् ब्रूमहे—कथयामः । [अनेन “पदाश्रिताः” “वाक्य-
मात्राश्रिताः” इति भेदेन वाक्यदोषाणां द्वैविध्यं सूचितम्]
“पटात्मकत्वाद्वाक्यस्य” इत्यनेन नवोनैर्यदुक्तं,—‘दुःश्रवत्वमारभ्य
अविस्मृष्टविधेयांशत्वान्तास्त्रयोदश दोषाः पदे वाक्ये च सम्भवन्ति’
इति, तदपि प्राचीनानामेव प्रतिविम्बनमिति सूचितम् ; तथा
हि,—पूर्वोक्ता दोषाः पदगताः वाक्यगताश्च ; येषां पदार्थान्वय-
निरपेक्षणेन दुष्टत्वमङ्गीकृतं, ते पददोषाः, शाब्दबोधसामग्री-
रहितत्वादन्यबोधजनकत्वेन तद्वटितपदसमूहस्यावाक्यत्वात् ;
यत्र च दोषवटितपदसमूहस्य वक्तृतात्पर्यग्रहेण पदार्थाप-
स्थित्या शाब्दबोधोत्पत्तिः सम्भाव्यते, तत्र तेषां वाक्यत्वादेव
तत्तद्दोषा वाक्यदोषतया अङ्गीकृताः ; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां
यथा गुणालङ्कारादीनां शब्दार्थगतत्वं व्यवस्थापितं, तथा दोषा-
णामपि इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

के ते ? इत्याह, खण्डितमिति ।—१ खण्डितम् । २ व्यस्त-
सम्बन्धम् । ३ असम्मितम् । ४ अपक्रमम् । कन्दोरीतियतिभ्रष्टं
—५ कन्दोभ्रष्टम् । ६ रीतिभ्रष्टम् । ७ यतिभ्रष्टञ्च इति त्रिविधं,
तथा ८ असत्क्रियं वाक्यं दुष्टं भवति ; तथाऽऽहुः काव्यालङ्कार-

काराः,—“कन्दोभ्रष्टं यतिभ्रष्टं रीतिभ्रष्टञ्च खण्डितम् । यच्च
विच्छिन्नसम्बन्धमक्रमं हतसम्प्रति ॥ इत्येवं सप्तधा वाक्यं
दुष्टं प्राज्ञैः प्रकीर्तितम् । अधिकत्वादिदोषास्तु नैतेभ्यः पृथगा-
स्थिताः ॥” इति । एतेन दर्पणोक्ताः त्रयोविंशतिसङ्ख्याकवाक्य-
दोषाः अपि एतेभ्यो न पृथगिति सूचितम् । तथा हि वाक्य-
मात्रदोषाः यथा,—“वर्णानां प्रतिकूलत्वं लुप्ताहतविसर्गते ।
अधिकन्यूनकथितपदता-हतवृत्तताः ॥ पतत्यकर्षता सन्धौ
विश्लेषाश्लीलकष्टताः । अर्धान्तरैकपदता समासपुनरात्तता ॥
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः । वाच्यस्यानभिधानञ्च
भग्नप्रक्रमता तथा ॥ त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमा-
सयोः । सङ्कीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥” इति ।
एकेन खण्डितत्वदोषेणैव नवीनीक्तानां सङ्कीर्णता-गर्भितता-
समासपुनरात्तताख्यदोषाणां परिग्रहसम्भवात् किं पल्लवितेन
इत्यभिप्रायः । तथा हि नवीनीक्तसङ्कीर्णत्वदोषादाहरणे,—“मुञ्च
चन्द्रं कुरङ्गाच्च ! पश्य मानं नभोऽङ्गने” इत्यत्र मानं मुञ्च चन्द्रं
पश्य इत्यन्वयः, ततश्च वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशात्
सङ्कीर्णत्वम् । “रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेषुधुना । वदामि
सखि ! ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥” इत्यादौ गर्भिततो-
दाहरणे च प्रथमद्वितीयचतुर्थचरणस्थितैकवाक्यरूपे तृतीय-
चरणरूपवाक्यप्रवेशात् वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशरूपगर्भि-
तत्वं दोषः । तथा “नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥” इति समास-
पुनरात्ततोदाहरणे च तृतीयपादवाक्येन ‘अन्वयसमाप्तावपि
पुनश्चतुर्थपादवाक्योपादानात् समासपुनरात्तत्वं, प्राचां मते तु,—
सर्वत्र वाक्यानां वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नतया खण्डितत्व-
मेव । एवं नवीनीक्तानामर्धान्तरैकपदताऽस्थानपदताऽक्रम-

ताख्यदोषाणामेकेन व्यस्तसम्बन्धत्वदोषेणैव सङ्ग्रहः । “इन्द्र-
विभाति कर्पूरगौरैर्धवल्लयन् करैः । जगन्मा कुरु तन्वङ्गि !
मान पादानते प्रिये ॥” इत्यर्धान्तरैकपदतादाहरणे प्रथमार्धं
पठितुमुचितस्यापि “जगत्” इति पदस्य द्वितीयार्धं निवेशा-
दर्धान्तरैकपदतादोषः ; तथा “हितान् न यः संशृणुते स
किम्भुः” इत्यत्र “संशृणुते” इत्यतः पूर्वं नञः स्थिते रौचित्ये-
ऽपि ‘यः’ इति पदस्य पूर्वं तस्य निवेशनादस्थानपदता-
दोषः, तथा “इयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया
कलापिनः । कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य
लोकस्य च नेत्रकौमुदौ ॥” इत्यत्र ‘त्वम्’ इत्यनन्तरं प्रयोक्तुमुचि-
तस्य ‘च’ इति पदस्य ‘लोकस्य’ इत्यनन्तरं प्रयुक्तत्वादक्रमता-
दोषः । प्राचां मते पुनः,—“क्रमिकाणां क्रमिकैरेवान्वयः” इति
नियमात् सम्बन्धवतां पदानामसान्निध्यात् व्यस्तसम्बन्धत्वं दोष
एव ; एवं नवीनोक्तयोरधिकपदता-कथितपदतादोषयोरसम्मित-
त्वदोषेणैव सङ्ग्रहः सम्भवति । तथा हि “पल्लवाकृतिरत्नोष्ठी”
इत्यत्राकृतिपदस्य पुनरुक्तत्वाभावेऽपि उक्तपदार्थानतिरिक्तार्थ-
कत्वादधिकपदत्वम् । “रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलोलमनिलो
वहन्” उभयत्र विलासरूपार्थस्य एकलीलापदेनैवोक्तौ तात्पर्य-
ग्राहकाभावेन लीलापदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वमिति
मन्यमतम् । इह तु दोषद्वयेऽपि शब्दापेक्षया अर्थानां न्यूनत्वेन
शब्दार्थयोः सम्मितत्वाभावात् असम्मितत्वदोष एव ; एवं
नवीनोक्तयोः न्यूनपदताऽनभिहितवाच्यतादोषयोः असत्क्रियत्व-
दोषस्वीकारादेव सिद्धिः । तथा हि,—“यदि मय्यर्पिता दृष्टिः
किं ममेन्द्रतया तदा” इत्यत्र “त्वया” इति पदस्य न्यूनत्वेन
न्यूनपदत्वं, तथा “व्यतिक्रमत्वं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि !
कुप्यसि ?” इत्यत्र “लवमपि” इति वक्तुमुचितस्य अपिशब्द-

स्यानभिहितत्वात् अनभिहितवाच्यतादोषः । प्राचीनानां मते असत्क्रियलक्षणे क्रियापदपदस्य पदमात्रे तात्पर्यात् उभयत्र असत्क्रियत्वदोषः । एवमपक्रमत्वदोषेणैव नवीनोक्तयोः प्रसिद्धित्याग भग्नप्रक्रमताख्यदोषयोः सङ्ग्रहः सम्भवति ; तथा हि “घोरो वारिसुचां रवः” इत्यत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धं, न तु रवः प्रसिद्धः, इति प्रसिद्धित्यागाख्यदोषः, तथा “एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत” इत्यत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैवोचितमिति “प्रत्यवोचत” इत्यनुक्ता “प्रत्यभाषत” इति कथनात् भग्नप्रक्रमतादोषः । इह पूर्वत्र “मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति” इत्यादि शास्त्रक्रमलङ्घनात् परत्र रचनाक्रमलङ्घनाच्च अपक्रमत्वाख्यदोष एव ; एवं “गता निशा इमा बाले !” इत्यत्र विसर्गलोपात्तुसविसर्गत्वम् ; “धीरो वरो नरो याति” इत्यत्र ओत्वप्राप्तविसर्गतया आहृतविसर्गत्वम् ; “उर्वसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः” इत्यत्र सन्धिविश्लेषप्रतीतिः कष्टतया सन्धिकष्टत्वम् ; तथा “ओबट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिंपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ । हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥” (उदत्तयति उल्लोटयति शयने कस्मिन्नपि मोट्टायति न परिघट्टति । हृदयेन स्फिटयति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा ॥” इति संस्कृतम्) अत्र शृङ्गाररसप्रतिकूलटकाराणां प्रयोगात् प्रतिकूलवर्णत्वम् । “दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते” “एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असक्तप्रयोग एव दोषः ; अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सक्तदपि” इति अधिकविसर्गस्थितौ च दुःश्रवत्वमेव इति च विश्वनाथमतम् । एतन्मते बहुशः एवंविधप्रयोगे श्रोतवैरस्यनिबन्धनलक्षणस्य श्रुतिकटुत्वस्य विद्यामानतया वाक्यगतश्रुतिकटुत्वदोषस्वीकारेणैव सिद्धेः किं

प्रतिकूलवर्णता-सन्धिकष्टता-लुप्ताहतविसर्गताख्यबहुदोषस्वीकारेणेति भावः । एवं नवीनोक्तसम्बन्धोलत्वस्य वाक्यगताग्राम्यत्वेन परिग्रहः सूचितः । तथा च “चलण्डामरचेष्टितः” इत्यत्र चलन् यथा स्यात् तथा डामरम् उद्भटं चेष्टितं यस्य इत्यर्थे सन्धावुत्पन्नस्य लण्डाशब्दस्यापभ्रंशविधया पुरीषव्यञ्जकत्वात् जुगुप्सा प्रतीयते, अतः सम्बन्धोलत्वदोषः ; प्राचां मते तु देश-भाषादिगतानुचितपदप्रयोगात्मकस्य ग्राम्यत्वस्यैव सद्भावात् प्रपञ्चितम् । एवं नवीनानां पतत्प्रकर्षताऽस्थानसमासतादोषयोः रीतिभ्रष्टत्वदोषेणैव सङ्ग्रहः । “प्रोज्वलज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः । श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी ॥” इत्यत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षपतनात् पतत्प्रकर्षतादोषः । तथा “अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सौमन्तिनौनां हृदि स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः । प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात् फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदेलिश्रेणीकपाणं शशी ॥” इत्यत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृत इति अस्थानसमासतादोषः । इह तूभयत्रापि रचनारीतेरनिर्व्वाहात् रीतिभ्रष्टत्वदोषः । एवं नवीनोक्तस्याभवन्मतसम्बन्धत्वस्य विधेयाविमर्षदोषवद्वाक्यगतालक्षणत्वदोषेणैव परिग्रहः सम्भवति । तथा हि “या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलङ्घतम् । यामेणाक्षीं विना प्राणाः विफला मे कुतोऽद्य सा ? ॥” इत्यत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षतया तदेकान्तःपातिना ‘एणाक्षी’ शब्देन कवेरभिमतोऽप्यन्येषां सम्बन्धो न घटते इत्यभवन्मतसम्बन्धत्वं दोषः । प्राचां मते तु “यामेणाक्षीम्” इत्यत्रैव एणाक्षीपदस्यान्वयः सम्भवति, न तु भिन्नविभक्तिकयोः “या” “यया” इति पदयोः, निराकाङ्क्षत्वावगमात् । अतः शब्दशास्त्र-

सीदाहरणं खण्डितमाह,—

वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नं खण्डितं मतम् ।

यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तौति वो जिनः॥ १७॥

विरुद्धान्वयस्याभिनिवेशात् वाक्यगतलक्षणत्वाख्यदोष एव ।
तथा नवीनोक्ताऽमतपरार्थतादोषस्यापि वाक्यगतव्याहृतार्थता-
दोषस्वीकारेण सिद्धिः स्यादेव ; यद्वा,—न्यायविरुद्धतारूपार्थदोष-
मर्थ्यऽस्य ग्रहणम् । तथा हि,—“राममन्मथशरेण ताडिता
दुःसहेन हृदये निशाचरी । गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश-
वसतिं जगाम सा ॥” इत्यत्र रुधिरसेकाभिव्यक्तबीभत्सरस-
स्यानुपयुक्तस्य रामादावारोपितमन्मथादिरूपापरार्थस्य प्रतीते-
रमतपरार्थत्वं दोषः, इह तु वाञ्छितार्थप्रतिकूलार्थप्रतीतेः
वाक्यगतव्याहृतार्थत्वम् । पक्षान्तरे एतादृशार्थस्य न्यायविरु-
द्धत्वात् न्यायविरुद्धताख्यार्थदोषः, इति लघुना सिद्धे गुरुकरणं
नोचितमिति न तैः पक्षविता इति सुधीभिर्विभाव्यम् । तथा
नवीनोक्तस्य हतवृत्तस्य कन्दोभ्रष्टनाम्ना लक्षणं कृतमिति नाम-
मात्रेणैव भेदः इति दिक् ॥ १६ ॥

क्रमेण लक्षणीदाहरणानि वक्तुमादौ खण्डितमाह, वाक्या-
न्तरेत्यादि ।—अत्र “यत् वाक्यम्” इति अध्याहार्यम् ; वाक्या-
न्तरे—अन्यस्मिन् वाक्ये, प्रवेशः,—अभिनिवेशः तेन, विच्छिन्नं
—विच्छेदं गतं, तत् खण्डितं मतं—कथितम् । एकवाक्या-
न्तरान्यवाक्यीयपदप्रवेशे, एकवाक्यान्तरान्यवाक्यस्य च प्रवेशे
अन्वयबोधजननान्निराकाङ्क्षमपि विशेष्यं पुनर्विशेषणान्तराका-
ङ्क्षया च उक्तश्चेदयं दोषः इत्यभिप्रायः । विवाचितार्थस्य विलम्बेन
प्रतीतिरत्र दूषकताबीजम् । उदाहरति, यथेति ।—यथा इन्द्रः
यं—जिनं, बुद्धमिति यावत्, स्तौति, सः स्वामी—प्रभुः, जिनः

सीदाहरणं व्यस्तसम्बन्धमाह,—

सम्बन्धिपददूरत्वे व्यस्तसम्बन्धमुच्यते ।

यथाऽऽद्यः सम्पदं ज्ञाता देयात् तत्त्वानि वोऽर्हताम् ॥१८॥

—बुद्धः, (“सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः । समन्त-
मद्रो भगवान् मारजित्त्वोकजिज्जिनः” इत्यमरः) वः,—युष्मान्,
सदा पातु—रक्षतु । अत्र “पातु सदा स्वामी जिनः वो यमिन्द्रः
स्तौति” इति वक्तव्ये “पातु सदा स्वामी” इत्युक्त्वा “यमिन्द्रः
स्तौति” इति वाक्यान्तरे “वो जिनः” इति वाक्यं प्रविष्टम् इति
खण्डितम् । अत्रोक्ताङ्गान्तरकल्पनेन शाब्दबोधविलम्बनं, तेन
च विवक्षितार्थस्य विलम्बेन प्रतीतिः दूषकताबीजम् । तच्च
नवीनोक्तेषु सङ्कीर्णता-गर्भितता-समाप्तपुनरात्ततादोषेषु सम्भ-
वति, ततस्तेऽप्यस्मिन्नेव दोषेऽन्तर्भवन्तीति भावः ॥ १७ ॥

व्यस्तसम्बन्धमाह, सम्बन्धीति ।—सम्बन्धिनां—सम्बन्धवतां,
परस्परमन्वितानामित्यर्थः, पदानां दूरत्वे—असन्निधाने सति,
(यद् वाक्यं दुष्टं स्यात् तत्) व्यस्तसम्बन्धम् उच्यते । तच्च
क्वचित् यद्वटकमेकमेव पदं भिन्नवाक्यघटितपदार्थे वर्तते तत्र
सम्भवति, क्वचिच्च स्वार्थान्वयिन्या स्ववाक्यीयक्रियया भिन्न-
वाक्यीयपदेन वा स्वार्थान्वयव्यवधानाभावे सति अयुक्तस्थान-
पतितेन पदान्तरोत्तरपातितानियमरहितेन पदेन विशिष्टं
यद्वाक्यं तत्र च सम्भवति, पदान्तरोत्तरपातनियतघटितत्वे च
सम्भवतीत्यवधेयम् । ततश्च नवीनोक्तानामङ्गान्तरैकपदता-
ऽस्थानपदताऽक्रमताख्यदोषाणाम् एकेनैव व्यस्तसम्बन्धाख्येन
सङ्ग्रहः कृत इति भावः । “क्रमिकाणां क्रमिकैरेवान्वयः” इति
नियमलङ्घनादन्वयबोधमान्यर्थमत्र दूषकताबीजम् । उदाहरति,
यथेति ।—यथा तत्त्वानि [“न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्तनाम्”

सीदाहरणमसम्मितमाह,—

शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव सम्मितौ ।

तदसम्मितमित्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो यथा ॥

मानसौकःपतङ्गानदेवासनविलोचनः ।

तमोरिपुविपचारिप्रियां दिशतु वो जिनः ॥१६॥

(२ । ३ । ६८ पा०) इत्यनेन षष्ठीनिषेधे कर्मणि द्वितीया]
ज्ञाता—तत्त्वज्ञानशीलः, अर्हतां—जिनसम्प्रदायविशेषावलम्बि-
नाम्, आद्यः,—श्रेष्ठः, उपास्य इति यावत्, ऋषभदेवः इत्यर्थः,
वः,—युष्माकं, सम्पदं—सम्पत्तिं, देयात्—ददातु । अत्र “आद्यः”
इत्यस्य “अर्हताम्” इत्यनेन सम्बन्धः दूरस्थितः, तथा “ज्ञाता
तत्त्वानि” इत्येतयोः परस्परसम्बन्धः, किन्तु मध्ये “देयात्”
इत्यस्य स्थितत्वात् दूरस्थितः इति व्यस्तसम्बन्धम् ॥ १८ ॥

असम्मितं लक्षयति, शब्दार्थाविति ।—यत्र—यस्मिन् वाक्ये,
शब्दार्थौ—पदपदार्थौ, तुलया—तुलादण्डेन, विधृती—न्यस्ती
इव, तुलानिर्णीतसमपरिमाणताकवस्तुद्वयवदित्यर्थः, न
सम्मितौ—न तुल्यौ, तत्—वाक्यं, वाक्यविदः,—पण्डिताः, अस-
म्मितम् इति आहुः,—कथयन्ति ; यत्र शब्दापेक्षया स्वल्पः अर्थः,
अर्थापेक्षया च शब्दोऽल्पः, तत्र असम्मितदोषः इति भावः,
शब्दार्थावित्यनेन नवीनैरुक्तयोः कथितपदत्वाधिकपदत्वाख्य-
वाक्यदोषयोः पौनरुक्ताऽऽख्यार्थदोषस्य च एकेनैवासम्मित-
संज्ञया सङ्ग्रहः सूचितः, नवीनोक्तेष्वेतेषु दोषेषु शब्दार्थयोः
सम्मितत्वाभावादित्यवधेयम् । अत्र शाब्दबोधविलम्बनं दूषकता-
बीजम् । उदाहरति, यथेति ।—यथा मानसौकःपतङ्गानदेवा-
सनविलोचनः,—मानसं—तदाख्यं सरः, ओकः,—स्थानम्,
(“ओकः सङ्गाश्रयस्त्रीकाः” इत्यमरः) यस्य तथोक्तः यः पतन्

सीदाहरणमपक्रममाह,—

अपक्रमं भवेद् यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।

यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरुन् देवांश्च वन्दते ॥२०॥

—पक्षी, हंस इत्यर्थः, (“पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्ररथाण्डजाः” इत्यमरः) सः एव यानं—वाहनं यस्य तथाभूतः, यः देवः, —ब्रह्मा इत्यर्थः, (“लोकेशो हंसवाहनः” इति गोपालः) तस्य आसनं—पद्मम् इत्यर्थः, (“विरिञ्चिः कमलासनः” इत्यमरः) तत् इव विलोचनं—नयनं यस्य तथाभूतः, कमलाक्षः इत्यर्थः, जिनः,—बुद्धदेवः, वः,—युष्मभ्यं, तमसाम्—अन्धकाराणां, रिपुः,—निवर्त्तकत्वेन शत्रुः, सूर्य इत्यर्थः, तस्य विपक्षः,—शत्रुः, राहुः इत्यर्थः, तस्य अरिः,—शत्रुः, निहन्ता इत्यर्थः, विष्णुः इति यावत्, तस्य प्रिया—लक्ष्मीः तां, दिशतु—ददातु । अत्र बहूनां शब्दानां, “कमललोचनः बुद्धदेवो युष्मभ्यं लक्ष्मीं ददातु” इति अर्थः स्वल्पः एव, इति शब्दार्थयोः असेमित्वात् असेमितम् । इति ॥ १८ ॥

अपक्रमं लक्षयति, अपक्रममिति ।—यत्र—यस्मिन् वाक्ये, प्रसिद्धस्य—शास्त्रादौ ख्यातस्य, क्रमस्य—नियमस्य, लङ्घनम्—अतिक्रमः, तत् वाक्यम् अपक्रमम्—अपक्रमत्वाख्यदाषदुष्टमित्यर्थः, भवेत् । उदाहरति, यथेति ।—यथा भुक्त्वा—भोजनं कृत्वा, कृतस्नानः,—स्नातः, गुरुन् देवान् च वन्दते—प्रणमति । अत्रादौ स्नानं, ततः देवगुरुप्रणामानन्तरं भोक्तव्यम् इति धर्मशास्त्रस्य नियमः, अत्र च स परित्यक्त इति अपक्रमम् । शाब्दबोधविलम्बेन दूषकताबीजमत्र मन्तव्यम् । प्रसिद्धक्रमलङ्घनञ्चात्र द्विधा सम्भवति,—शास्त्रनिर्दिष्टक्रमविपर्ययः, अनेकेषु वक्तव्येषु प्रथममेकस्मिन्नुक्ते तदुत्तरवक्तव्यस्य यादृशी बुभुक्षा जायते, तत्र तथा-

सीदाहरणं कन्दोभ्रष्टमाह,—

कन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद् यथा ।

स जयति जिनपतिः परब्रह्म महानिधिः ॥२१॥

सीदाहरणं रीतिभ्रष्टमाह,—

रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद् यथा ।

जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः ॥२२॥

ऽनिर्देशश्च ; एवञ्च नवीनोक्तयोः प्रसिद्धित्याग-भग्नप्रक्रमताख्ययोः
दोषयोरनेन सङ्ग्रहः सूचितः ॥ २० ॥

कन्दोभ्रष्टं लक्षयति, कन्द इति ।—यत्—वाक्यं, कन्दः-
शास्त्रस्य विरुद्धम्—अननुकूलं, तत् हि वाक्यं कन्दोभ्रष्टं—
तदाख्यदोषयुक्तमित्यर्थः । उदाहरति, यथेति ।—यथा परब्रह्म—
परमात्मा, महानिधिः,—महारत्नभूतः इत्यर्थः, [अत्र “परब्रह्म-
महानिधिः” इति समस्तपदत्वाङ्गीकारे,—परब्रह्मणः,—परम-
तत्त्वस्य, महानिधिः,—महान् आश्रयः इत्यर्थः] सः,—प्रसिद्धः,
जिनपतिः,—बुद्धदेवः, जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अत्र तृतीय-
पादे “स जयति जिनपतिः” इत्यत्र आदिवर्णात् परं नगण-
सम्बन्धात् : “वक्त्रं नाद्यान्नसौ स्यातामर्धेयोऽनुष्टुभि ख्यातम्”
इति अनुष्टुप्पञ्चलक्षणस्य वैपरित्यात् एतत् कन्दोभ्रष्टम् ॥ २१ ॥

रीतिभ्रष्टं लक्षयति, रीतिभ्रष्टमिति ।—यत्र—यस्मिन्
वाक्ये, रीतेः,—गौड्यादेः, काव्योत्कर्षविधाननियमस्य च
अनिर्वाहः,—अननुसरणम्, अनभीष्टरीत्यन्तरेण खण्डितत्वा-
दिति भावः, भवेत्, तत् रीतिभ्रष्टं, कथ्यते इति शेषः ।
उदाहरति, यथेति ।—यथा इन्द्राद्यमरवन्दितः,—सुरेन्द्रादि-
देवपूजितः, श्रीमान्—शोभासम्पन्नः, सः,—प्रसिद्धः, जिनः,
—बुद्धदेवः, जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अत्र प्रथमं

सोदाहरणं यतिभ्रष्टमाह,—

पदान्तविरतिः प्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।

नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ॥२३॥

पादे असमस्तपदानां प्रयोगात् वैदर्भी रीतिः, द्वितीये तु “इन्द्राद्यमरवन्दितः” इति समासाश्रयणात् गौड़ी रीतिः । तथा च दर्पणे वैदर्भी-गौड़ीरीत्योर्लक्षणं यथा,—“माधुर्य-व्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका । अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥” इति, “ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आङ्गस्वरः पुनः । समासबहुला गौड़ी—” इति च । यया रीत्या आरभ्यते, तयैव रीत्या कविभिः समाप्यते, इति नियमः, इह तु स लङ्घित इति रीतिभ्रष्टत्वदोषः । रीतिभ्रष्टत्वञ्च—कदाचित् यत्र यद्वाञ्छको यः समासः, तत्र तद्वाञ्छकस्थानपरिहारिणं तत्समासकरणत्वं, कदाचित् बन्धस्य पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरत्र शैथिल्यादनुप्रासघाताच्च काव्यनिकर्षविशेषत्वम्, अविशेषे वक्तव्ये विशेषाभिधानात्, विशेषे च वक्तव्येऽविशेषाभिधानात्, अनियमेन वक्तव्ये नियमेन, नियमेन वक्तव्येऽनियमेन अभिधानाच्च, किं बहुना चमत्कारोद्बोधे यद्यदन्तरायभूतं तत्तदुपष्टम्भमूलत्वञ्च बोध्यम् ; तेन नवीनोक्तानां पतत्यकर्षताऽस्थानसमासताऽऽदीनां दोषाणाञ्च अनेनैव सङ्ग्रहः कृतः इति सूच्यते ॥ २२ ॥

यतिभ्रष्टं लक्षयति, पदान्तरिति ।—पदस्य—विभक्त्यन्तस्य शब्दविशेषस्य, अन्तः,—मध्ये, विरतिः,—विच्छेदः, विरामः इत्यर्थः, इदं यतिभ्रष्टं प्रोक्तं—कथितम् । उदाहरति, यथेति ।—यथा तस्मै—प्रसिद्धाय, जिनः,—बुद्धः, स्वामी—सम्प्रदायप्रवर्तकः, यस्य तथाभूताय, अर्हते—“सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्य-पूजितः । यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥” इत्युक्त-

सीदाहरणमसत्क्रियमाह,—

क्रियापदविहीनं यत् तदसत्क्रियमुच्यते ।

यथा सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ॥ २४ ॥

अथ अर्थदोषानाह,—

देशकालाऽऽगमावस्थाद्रव्याऽऽदिषु विरोधिनम् ।

काव्येष्वर्थं न वक्षीयाद्विशिष्टं कारणं विना ॥ २५ ॥

स्वरूपाय, नेमये—तदाख्याय महापुरुषाय, सदा नमः । अत्र “जिनस्वामिने” इति पदस्य मध्ये “मि” इत्यत्र यतिः, इति यतिभ्रष्टम् । अत्र कवेरशक्त्युन्नयनं वाक्यार्थबोधप्रतीत्युपघातश्च दोषः ॥ २३ ॥

असत्क्रियं लक्षयति, क्रियेति ।—यत्—वाक्यं, क्रियापदेन विहीनं—रहितं, भवतीति शेषः, तत् असत्क्रियम्—असती—अविद्यमाना, क्रिया यत्र तथाभूतम्, असत्क्रियाख्यदोषदुष्टमित्यर्थः, उच्यते—कथ्यते । उदाहरति, यथेति ।—यथा सरस्वतीं—वाग्देवतां, पुष्पैः,—कुसुमैः, श्रीखण्डैः,—चन्दनैः, घुसृणैः,—कुङ्कुमैः, तथा स्तवैः,—स्तोत्रैश्च । अयं भावः,—“सरस्वतीं देवीं पुष्पैः अर्चयामि, चन्दनैः कुङ्कुमैश्च अनुलिम्पामि, स्तवैः कीर्तयामि” इत्येवं वक्तव्ये त्रयाणां क्रियापदानामनुक्तेः तानि अध्याङ्ग्यन्ते इति क्रियापदानामनुपादानादस्यासत्क्रियाख्यदोषदुष्टत्वमिति । अत्र च क्रियापदमुपलक्षणं, “स्वप्रतिपन्नत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वं” तेन न केवलं क्रियापदानाम्, अपि तु पदमात्राणामित्यभिप्रायः ; ततश्च नवीनोक्तयोः न्यूनपदत्वानभिहितवार्त्तत्वयोरपि लाभः अनेनैव सूचित इति भावः ॥ २४ ॥

एवं वाक्यमात्रदोषान् अभिधाय अर्थदोषानाह, देशेति ।—

देशः,—नगरादिः, कालः,—वसन्तादिः, आगमः,—शास्त्रं,
लक्षणया तत्तद्विद्येत्यन्ये ; अवस्था—दशा, द्रव्यम्—अर्थः,
भूस्यादिरिति यावत्, [आदिपदेन गुणक्रियाजातीनां ग्रहणं]
तेषु विषयेषु इत्यर्थः, विरोधिनं—विरुद्धतया प्रतिभासमानं,
विपरीतमित्यर्थः, अर्थं विशिष्टम्—असामान्यं, कारणं—हेतु-
विशेषं विना, काव्येषु न बध्नीयात्—न योजयेत् । देश-
कालाद्यौचित्यनिबन्धन एव काव्यार्थः साधयान्, अन्यथा-
करणे कवेरव्युत्पन्नत्वप्रतीती उपहासः सम्पद्येत इति भावः ।
तथाऽऽहुश्चित्रमोमांसाकाराः,—“देशागमकालगुणावस्थाजाति-
क्रियाऽऽदिदुष्टतो हेयाः” इति ; साहित्यदर्पणकारा अप्याहुः,
—“अर्थानौचित्यमन्यच्च” इति, अन्यदनौचित्यं देशकालादी-
नामन्यथा यद्वर्णनम् इति चेत्त्वर्थः । यद्यपि दर्पणकृता,—“अपुष्ट-
दुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः । अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशित-
विरुद्धताः ॥ सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते । साका-
ङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ अविशेषे विशेषश्चानियमे
नियमस्तथा । तयोर्विपर्ययो विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ निर्मुक्त-
पुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ॥” इत्यर्थदोषा अभिहिताः, देश-
कालादिविरुद्धता तु रसदोषेषु गणिता, तथाऽपि देशादिविरुद्ध-
ताया रसदोषत्वेन अपुष्टत्वादीनां पुनरर्थदोषत्वेनाभिधानं मत्त-
गजक्रीडितमुत्प्रेक्षामहे । तथा हि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषा-
दीनां पदादिनिष्ठत्वविभागाङ्गीकारः, देशादिविरुद्धता चान्वय-
व्यतिरेकाभ्यामर्थतन्त्रा इत्यस्या रसदोषत्वं न कथमपि युक्तम् ।
एवमेव अपुष्टत्वादीनोमनर्थकत्वादिपदादिदोषमात्रत्वं सम्भवति ;
एतेन नवीनोक्तानामपुष्टत्वादीनां निरुक्तेषु पदवाक्यदोषेषु
अनर्थकत्वादिष्वेवान्तर्भाव्यत्वोपपत्तौ अर्थदोषत्वाङ्गीकारः परा-
हतः । अपुष्टत्वादीनामन्तर्भावश्चेत्यम्,—अपुष्टत्वं नाम मुख्या-

नुपकारित्वम् ; इदञ्च,—“प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत्तदनर्थकमुच्यते” इत्युक्तानर्थकत्वाभिन्नमेव ; एतेन “विलोक्य वितते व्योम्नि” इत्यादौ अपुष्टत्वस्य दोषान्तराङ्गीकारो निरस्तः । “देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम्” अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम्” इति निर्दिष्टः पुनर्दुष्क्रमत्वदोषः, “अपक्रमं भवेद् यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम्” इत्युक्तापक्रमत्वापरपर्यायः । ग्राम्यत्व-व्याहतत्वे—“स्वपिहि त्वं समोपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ! । अत्रार्थो ग्राम्यः ।” “कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाऽभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम् ।” यथा,—“हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलाऽऽदयः । वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलीचनचन्द्रिका ॥” अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुः तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः” इति निर्दिष्टे, ते “ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते । व्याहतार्थं यदिष्टार्थ-बाधकार्यान्तराश्रयम् ॥” इत्युक्तस्वरूपे । “हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः । यथाऽऽशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥ अत्रार्थोऽश्लीलः ।” इत्युदाहृतस्याश्लीलत्वस्य कदाचिद् ग्राम्यत्वे कदाचित् पुनर्व्याहतत्वेऽन्तर्भावः सुवचः, प्राचीनोक्तग्राम्यत्व-व्याहतत्वोभयलक्षणाक्रान्ततया तयोर्दर्शनात् । “वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः । व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः श्रद्धा न कस्य श्रुतौ न प्रत्येति तथाऽपि मुग्धहरिणौ भास्वन्मरीचिष्वपः ॥ अत्र यस्मात् सूर्याद्दृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात् तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवं, ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्यय-हेतुत्वमुचितम् ; तथाऽपि सृगी भ्रान्तत्वात्तत्र जलप्रत्ययं न करोतीत्ययमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः, दूरे च अस्मात् प्रस्तुतार्थ-बोधः । इति कष्टार्थत्वम् ।” इति निर्दिष्टस्य “यस्य नास्ति

प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुः—” इत्युक्तेनाप्रसिद्धत्वेन गतार्थत्वं स्पष्टं,
न हि जलधरादृष्टेरिव कलिन्दगिरिर्यमुनाया इव च सूर्यान्तयोः
प्रभवः प्रसिद्धः । “सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः ।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्यनः ॥ अत्र सदेत्यन-
वीकृतत्वम् ।” इत्यनवीकृतत्वस्य नवीनोक्तदोषस्य पुनः “रीति-
भ्रष्टमनिर्व्वाहो यत्र रीतेर्भवेत्—” इति प्राचीनोक्ते भ्रष्टरीति-
कत्वेऽन्तःपातः सुवचः, रीतिपदेन काव्योत्कर्षविधाननियम-
स्यापि सङ्गहात् । “गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावादयस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः । परित्यक्तं तेन
त्वमपि सुतशोकान्न तु भयादिमोक्षे शस्त ! त्वामहमपि
यतः स्वस्ति भवते ॥ अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति
निर्हेतुत्वम् ।” इत्युक्ता निर्हेतुता ग्राम्यत्वेन च सङ्गृहीता,
ग्राम्योक्तेः निर्हेतुत्वादिना दुष्टत्वात् । “कुमारस्ते नराधीश !
श्रियं समधिगच्छतु । अत्र त्वं स्त्रियस्वेति विरुद्धार्थप्रकाशनात्
प्रकाशितविरुद्धत्वम् । “अचला अवला वा स्युः सेव्या ब्रूत
मनीषिणः ।” अत्र प्रकरणाभावात् शान्तशृङ्गारिणोः को
वक्ता इति निश्चयाभावात् सन्दिग्धत्वम् ।” इति निर्दिष्टयोः
नवीनोक्तयोः प्रकाशितविरुद्धत्व-सन्दिग्धत्वयोश्च प्राचीनोक्तव्याह-
तत्वाभिन्नत्वम् । अथ “सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः
परमापदां पदम् । वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वय-
मेव सम्पदः ॥ अत्र द्वितीयार्हव्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ
इति पुनरुक्तता ।” प्रसिद्धिविरुद्धता यथा,—“ततश्चचार समरे
शितशूलधरो हरिः । अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।”
“अधरे करजक्षतं मृगाद्याः” अत्र शृङ्गारशास्त्रविरुद्धत्वाद्व्या-
विरुद्धता । “ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतम् । स्त्री-
रत्नञ्च कथं नाम मृथ्यते भार्गवोऽधुना ॥ अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षित-

मित्याकाङ्क्षता।” “सज्जनो दुर्गती मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।
 खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥ अत्र सज्जनः
 कामिना च शोभनौ, तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचर-
 भिन्नत्वम् ।” “आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनौ, शास्त्राणि चक्षु-
 र्नवं, भक्तिभूतपती पिनाकिनि, पदं लङ्घेति दिव्या पुरी । उत्पत्ति-
 दुर्हिणान्वये च, तदहो ! नेटुग्वरी लभ्यते स्याच्चेदेष न रावणः
 क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वं गुणाः ॥ अत्र न रावणः इत्येतावतैव
 समाप्यम् ।” “हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।
 अत्र रत्नानां निधेः इत्यविशेष एव वाच्यः ।” “आवर्त्त एव
 नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे । अत्रावर्त्त एवेति नियमो न
 वाच्यः ।” “यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः ।
 अत्र तमिस्रास्त्रिति रजनीविशेषो वाच्यः ।” “आपातसुरप्ते
 भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते ? अत्रापात एवेति नियमो
 वाच्यः ।” “आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति । अत्र
 परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम्” इति विध्य-
 युक्तत्वम् । “चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोऽपह ! ।
 विरहिप्राणहरण ! कदर्यय न मां वृथा ॥ अत्र विरहिण
 उक्तौ तृतीयपादार्थो नानुवाद्यः,” इत्यनुवादायुक्तता । “लग्नं
 रागावृताङ्गा सुदृढमिह ययैवासियध्याऽरिकण्ठे मातङ्गानाम-
 पीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती । तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्वृण-
 यति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितु-
 मिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥ अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन
 समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।” इत्युदाहृतेषु
 त्रयोदशसु पुनरुक्तत्वादिषु दोषेषु आद्यपञ्चमत्रयोदशानां पुनः
 रक्तत्व-सहचरभिन्नत्व-निर्मुक्तपुनरुक्तत्वानां दोषाणां भ्रष्टरीति-
 कत्वेन, द्वितीयस्य ख्यातिविरुद्धत्वस्य दोषस्य प्राचीनाभिमतैना-

तदुदाहरणमाह,—

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुटकुटजराजिस्मितदिशि
प्रचण्डे मार्त्तण्डे हिमकणसमानोष्ममहसि ।
जलक्रीडायातं मरुसरसि बालद्विपकुलं
मदेनान्धं विध्यन्त्यसमशरपातैः प्रशमिनः ॥ २६ ॥

प्रसिद्धत्वेन, तृतीयस्य विद्याविरुद्धत्वस्य ग्राम्यत्वेनागमविरुद्धत्वेन वा, चतुर्थसप्तमाष्टमनवमदशमानां साकाङ्क्षत्व-अविशेषविषय-विशेष-अनियमविषयनियम-विशेषविषयाविशेष-नियमविषयानियमत्वानां “शब्दार्थौ यत्र न तुलाविष्टताविव सम्मतौ । तदसम्मितमित्याहुः—” इत्युक्तेनासम्मतत्वेन, षष्ठैकादशद्वादशानामस्थानयुक्तत्व-विध्ययुक्तत्व-अनुवादायुक्तत्वाख्यानां चैव दोषाणां पूर्वोक्तेन व्याहतत्वेन गतार्थत्वम् । एवं नवीनोक्तानामपुष्टत्वादीनामर्थदोषाणां प्राचीनोक्तेषु अनर्थकत्वादिषु एव अन्तर्भावोपपत्तौ तेषां पृथक्तयाऽङ्गीकार आग्रहमूल उन्मादान्धतानिदर्शनमेव वा प्रतिभासते सचक्षुषां पुरतः इति दिक् ॥ २५ ॥

देशकालादिविरुद्धत्वे निबध्यमानस्यार्थस्य दुष्टत्वमुदाहरति, प्रवेशे इति ।—स्फुटा—विकसितपुष्पा इत्यर्थः, या कुटजानां—गिरिमल्लिकानां (“कुटजो गिरिमल्लिका” इत्यमरः) राजिः,—पङ्क्तिः, सा एव स्मितम्—ईषडासः, यासां तथाभूताः, दिशः यत्र तादृशे, चैत्रस्य—मधुमासस्य (“स्याचैत्रे चैत्रको मधुः” इत्यमरः) प्रवेशे—प्रवृत्तौ, आरम्भे इत्यर्थः, हिमानां—तुषाराणां, (“अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्” इत्यमरः) कणाः,—धिन्दवः, तैः समानानि—तुल्यानि, तत्तुल्य-शैतलानीति भावः, उष्ममहांसि—उष्णतेजांसि, यस्य तथोक्ते, यथा हिमानीपातः, तथैव उष्मप्रसर इति तेषां साम्यम् इति भावः ; मार्त्तण्डे—सूर्ये, (“विकर्त्तनार्कमार्त्तण्डमिहिरारुण-

प्रकरणमुपसंहरति,—

इति दोषविषनिषेकै-

रकलङ्कितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः ।

पूषणः” इत्यमरः) प्रचण्डे—तीव्रातपे, उग्रतां गते सति इत्यर्थः, प्रशमिनः—शान्ताः, योगिनः इत्यर्थः, मरुसरसि—मरुः,— तदाख्यो निर्जलो देशविशेषः एव सरः,—जलाशयः, यद्वा, मरौ—मरुभूमौ, सरः तस्मिन्, जलक्रोडायै आयातम्—आगतम्, [एतेन द्विपानां वन्यत्वमपि सूचितम्] मदेन अन्धं—मदोन्मत्ततया सर्वमेवावजानन्तं, बालद्विपकुलं—करिशावकवृन्दम्, असमशरपातैः,—निरुपमबाणवर्षणैः, विध्यन्ति—ग्रहरन्ति । अत्र चैत्रस्य प्रवेशे कुटजकुसुमानां विकाशः कालविरुद्धः, तस्य वर्षास्वेव सम्भवात्, हिमकणवत् सूर्यतेजस उष्णत्वाभिधानं द्रव्यविरुद्धं, तथाभूतस्य च सूर्यस्य प्रचण्डत्वाभिधानं स्वभावविरुद्धं, मरुदेशे जलस्य तथा हस्तिनामेवासम्भवः, का पुनस्तडागकथा, किं वा तत्र क्रोडार्थं हस्तिनामागमनमिति तथा वर्णनं देशविरुद्धं, बालानां द्विपानाञ्च मदमत्तत्वाभिधानमवस्थाविरुद्धं, यौवने एव तेषां मदसम्भवात्, वनद्विपवेधनमेव शास्त्रविरुद्धं किं पुनः प्रशमिजनकर्तृकम् इत्येवं विरुद्धमभिधानं कवेर्होस्यायैव सम्पद्यते इति बोध्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

उक्तमर्थमुपसंहरंस्तदनुभवप्रकारमाह, इतीति ।—इति—एवमुक्ताः, दोषाः,—अनर्थकत्वादयः, एव विषाणि—हालाहलाः, तैः निषेकाः,—मिथ्याभावाः, समिश्रणानीति यावत्, तैः अकलङ्कितम्—अदूषितम्, उज्ज्वलम्—अनर्थकत्वादिदोषशून्यत्वे सति गुणालङ्कारयुक्ततया सचमत्कारं, कवेः हृदयम् एव

कविहृदयसागरोत्थित-

समृतमिवास्वादयते काव्यम् ॥ २७ ॥

इति वाग्मटालङ्कारि द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

तृतीयः परिच्छेदः ।

गुणप्रयोजनम्,—

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।

तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥ १ ॥

सागरः,—समुद्रः, तस्मात् उत्थितम्—उद्भूतं, काव्यं—कवित्वम्, समृतम् इव विबुधैः,—विहङ्गिः, देवैश्च, सदा आस्वादयते—सानन्दम् आलोच्यते, निपौयते चेत्यर्थः । आर्या वृत्तम् ॥ २७ ॥

इति द्वितीयपरिच्छेदः ॥ २ ॥

काव्यस्य दोषराहित्येऽपि यदसत्त्वे न प्रशंसनीयत्वं स्यात्, तान् गुणानाह, अदोषाविति ।—शब्दार्थौ अदोषौ अपि—प्रागुक्तदोषरहितौ अपि, यैः,—गुणैः, विना न प्रशस्येते—न प्रशंसाम् अर्हतः, इदानीं तान्—निरुक्तदिशा दोषशून्यत्वेऽपि काव्यस्य प्रशंसाऽवष्टम्भताहेतुभूतान्, गुणान् यथाशक्ति—शक्तिम् अनुसृत्य, अभिव्यक्तये—प्रकटीकर्तुम् इत्यर्थः, [एतेन गुणानां साकल्येन अभिधातुं प्रतिज्ञा सूचिता भवति] ब्रूमः,—कथयामः ॥ १ ॥

गुणनामानि,—

औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।

समाधिः श्लेष ओजोऽय माधुर्यं सुकुमारता ॥ २ ॥

सीदाहरणसीदाय्यमाह,—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।

मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥ ३ ॥

के च ते इत्याकाङ्क्षायामाह, औदार्यमिति ।—१ औदार्यम्—उदारता, २ समता—समानत्वम्, ३ कान्तिः,—शोभा, ४ अर्थव्यक्तिः,—अर्थस्य परिष्कृततया प्रतीतिः, ५ प्रसन्नता—प्रसादः, ६ समाधिः,—समाधानम्, ७ श्लेषः,—अनेकार्थप्रत्यायकतया सङ्घटना, ८ ओजः,—उत्कटबन्धत्वम्, ९ माधुर्यं—मधुरता, १० अथ सुकुमारता—कोमलविन्यासश्च, इत्येवं दश गुणा ज्ञेया इति शेषः । एते च शब्दगता अर्थगताश्च स्युः, तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—“प्रसादः समता श्लेषो माधुर्यं सुकुमारता । ओजः कान्तिः समाधानमर्थव्यक्तिरुदारता । इत्येते शब्दगा ज्ञेया अर्थगाश्च गुणा बुधैः ॥” इति यद्यपि नात्र परिष्कृत्योक्ताः, तथाऽपि व्याख्यायां तत्र तत्र तथा दर्शयिष्यामः इति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं गुणान् नामतो निर्दिश्य क्रमेण लक्षयितुं प्रवृत्तः, तत्र तावत् औदार्यं लक्षयति, पदानामिति ।—अर्थस्य—अभिधेयस्य, चारुत्वं—मनोज्ञत्वं, तस्य प्रत्यायकानि—बोधकानि, यानि पदान्तराणि—अन्यपदाः, तैः सह मिलितानां—सङ्गतानां, पदानां—विभक्त्यन्तशब्दानां, यत् आधानं—रचनं, प्रयोग इति यावत्, तत् औदार्यम्—उदारता, तदाख्यो गुण इति यावत्, स्मृतं—कथितम् । तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मी-
लीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि
श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥४॥

“प्रस्फुटं भव्यमर्थं ये कथयन्तीव संस्थिताः । औदार्यं तेषु
शब्देषु सोऽर्थोऽप्यौदार्यभाजितः ॥” इति । यथेति—अत्र यथा-
शब्दः वक्ष्यमाणोदाहरणार्थं प्रयुक्त इति बोध्यम् ।

उदाहरति, गन्धेति ।—लक्ष्णोक्तयथाशब्दोऽत्र अनुषज्यते,
यथा श्रीनेमिनाथः,—श्रीमान् नेमिस्वामी, गन्धाः,—गन्ध-
प्रधानाः, प्रस्फुटमदगन्धा इत्यर्थः, ये इभाः,—हस्तिनः, ते
गन्धेभाः,—गन्धगजाः इत्यर्थः, तैः विभ्राजितानि—सुशोभि-
तानि, धामानि—स्थानानि, भवनानीति यावत्, यस्मिन्
तथोक्तं, लक्ष्म्याः,—राजश्रियाः, लीलाम्बुजम् इव—क्रीडापद्मम्
इव, छत्रम्—आतपत्रं, यस्मिन् तथाभूतम्, अतीव भोगसुखकरम्
इति भावः, राज्यम् अपास्य—विहाय, अत्र रैवतके—तदारख्ये,
क्रीडागिरौ—विहारसुभगे पर्वते, चिरं—दीर्घकालं, तपांसि
चकार । [अत्र गन्धशब्देन इभानां, लीलाशब्देन अम्बुजस्य,
तेन च छत्रस्य, तेनापि राज्यस्य, क्रीडाशब्देन गिरेश्च चारुत्वं
व्यज्यते]; एषां केवलानां गन्धादिपदान्तरसान्निध्यमन्तरा
तादृशचारुत्वप्रत्यायकत्वाभावात् इति औदार्यम् । इन्द्रवज्रा
वृत्तम् । इदं शब्दगतस्योदाहरणम् ; अर्थगतस्य तु—“प्रमोद-
भरतुन्दिलप्रमथदत्ततालाऽऽवली-विनोदिनि विनायके डमरु-
डिण्डिमध्वानिनि । ललाटतटविस्फुटव्रवक्त्रपीटयोनिच्छटो
हठोद्धतजटीङ्गटो गतपटो नटो नृत्यति ॥” इत्युदाहरणं स्पष्टं
चोद्धटभट्टकृतोऽलङ्कारशेखरे ॥ ३ ॥ ४ ॥

समतां कान्तिञ्च सीदाहरणमाह,—

बन्धस्य यद्वैषम्यं समता साच्यते बुधैः ।

यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥ ५ ॥

कुचकलसविसारिस्फारलावण्यधारा-

मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्ली ।

समतां कान्तिञ्च क्रमेण एकपद्ये एव लक्षयति, बन्धस्येति ।
—बन्धस्य—रचनस्य, यत् अवैषम्यम्—अविसंवादिता, अन्यो-
ऽन्याविरोधः इति यावत्, सा बुधैः,—आलङ्कारिकैः, समता—
तदाख्यो गुणः, उच्यते । तथोक्तं रसगङ्गाधरकारैः,—“वर्ण्य-
मानन्तु यद्वस्तु तदयोग्या पदयोजना । समत्वं स्याद् गुणः
शब्दः, आर्थो बन्धानुगामिनी । वस्तुनो घटना—” इति ।
तस्यैव—बन्धस्यैव, च यत् उज्ज्वलत्वं—बन्धमाधुर्यव्यपोहक-
विसर्गसङ्गावादिना उद्घोषत्वं, सा कान्तिः,—तदाख्यो गुणः,
उदिता—कथिता । तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—“नृत्यव्याय-
पदा कान्तिः शब्दगाऽर्थगता पुनः । स्फुरदर्थं मता वस्तुवर्णना
कविसत्तमैः ॥” इति । अत्रापि यथाशब्दः पूर्ववत् उदाहर-
णार्थं ज्ञेयः ।

क्रमादुदाहरति, कुचेति ।—कामपि नायिकाम् आलो-
कितवतः कस्यचित् सखायं प्रति उक्तिरियम् । यस्याः,—नायि-
कायाः, अङ्गासङ्गिनी—अङ्गस्थिता, हारवल्ली—हारलता, कुच-
कलसयोः,—स्तनकुम्भयोः, कलसोपमस्तनयोरुपरीत्यर्थः, विसा-
रिणी—प्रसरन्ती, या स्फारा—उत्कटा, अत्युज्ज्वला इत्यर्थः,
लावण्यधारा,—“मुक्ताफलेषु छायायास्तत्त्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तन्नावण्यमिति स्मृतम् ॥” इत्युक्तलक्षणा

असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां

कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥६॥

फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-

दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुराजन्मनि कृती ।

कान्तिपरम्परा ताम्, अनुवदति—अनुकरोति, असदृशमहिमानं—निरूपमयशःशालिनीम्, अत एव अनन्योपमेयां—न अन्यत् उपमेयम्,—उपमेयभूता अन्या कान्तित्यर्थः, यस्याः तथाभूताम्, अन्याभिः कान्ताभिः उपमातुमशक्यामित्यर्थः, स्वेनैव स्वयंसदृशमिति भावः, तां—कान्तां, ते—तव, चेतसि—हृदये, अहं कथं—केन प्रकारेण, व्यञ्जयामि—प्रकटयामि, प्रकाशयामि इत्यर्थः, तथाभूताया अन्यस्या अनुपलब्धौ तां बोधयितुमपि अशक्तोऽहमिति भावः ; कथय—ब्रूहि । अत्र सर्व्वेष्वेव पदेषु तुल्यमाधुर्य्यमास्वादयते इति बन्धस्य साम्यम् । मालिनीं वृत्तं,—“ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकीः” इति तल्लक्षणम् । इदञ्च शब्दगतायाः समताया उदाहरणम् ; अर्थगतायास्तु यथा चित्रमीमांसायाम् ;—“स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गरतरङ्गसखानाम् । केवलासृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥” इति । [लास्यगृहमित्यत्र लास्य-भरमिति पाठान्तरम्] ।

एवं समतामुदाहृत्य, कान्तिमुदाहरति, फलैरिति ।—कृती—कृतार्थः, असौ—पुमान्, पुराजन्मनि—पूर्वजन्मनि, प्रथमम् अपि—बाल्ये एव इत्यर्थः, सदनात्—गृहात्, (“गृहगेहोद-
वसितं..... ।सदनं भवनागारमन्दिरम्” इत्यमरः) निर्गत्य—वहिर्निःसृत्य, गार्हस्थ्यं परित्यज्य इत्यर्थः, फलैः क्लृप्ताहारः,—विहितभोजनः, क्वचित् अपि—कस्मिंश्चिदपि,

तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-
रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादार्चनमसौ ॥७॥

सोदाहरणार्थव्यक्तिमाह,—

यदनेयत्वमर्थस्य साऽर्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।

त्वत्त्वैन्यरजसा लुप्ते सूर्ये रात्रिरभूद्दिवा ॥८॥

सौख्ये—भोगसुखे इत्यर्थः, अनासक्तः,—आसक्तिरहितः सन्,
अश्रान्तम्—अविरतम्, अगणितश्रममिति यावत्, यथा तथा
तपस्यन्—तपश्चरन्, ननु—निःसन्देहं, वनभुवि—अरण्यदेशे,
अखण्डैः,—अभग्नैः, श्रीफलदलैः,—विल्वपत्रैः, चिरं—दीर्घ-
कालं व्याप्य इत्यर्थः, खण्डेन्दोः,—खण्डः,—अर्द्ध इत्यर्थः, इन्दुः,
—चन्द्रः, भाले धार्यत्वेन यस्य तादृशस्य, हरस्येत्यर्थः, पादार्चनं
—चरणपूजनम्, अकृत—कृतवान् । शिखरिणी वृत्तं,—“रसै
रुद्गैश्चन्द्रा यमनसभला गः शिखरिणी” इति तल्लक्षणम् । अत्र न
सार्हता विरूपा, न वा समासो दीर्घः, न च दुर्बोधानि पदानि,
अतो बन्धस्य उज्ज्वलत्वम् इति कान्तिः । इयञ्च शब्दगतोदा-
हृता, अर्थगता तु यथोदाहृता मम्मटभट्टैः,—“गुरुमध्ये कम-
लाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् । रदयन्वितरसनाऽर्थं
तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे ॥” इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

श्लोकार्हेन अर्थव्यक्तिं लक्षयति,—यदिति ।—अर्थस्य—प्रति-
पाद्यस्य, यत् अनेयत्वम्—अध्याहारादिकष्टकल्पनामन्तरेण
प्रयुक्तपदेभ्य एवोपस्थितिः, सुखबोध्यत्वमित्यर्थः, सा अर्थव्यक्तिः
स्मृता । क्रमदीश्वरेणाप्युक्तं,—“यावदाद्याभिधानं यत्तदर्थव्यक्ति-
लक्षणम्” इति । इयं शब्दगताऽर्थव्यक्तिः; अर्थगता तु—“भव्यार्थै-
र्मृदुलैः शब्दैः स्फुरत्सरसवर्णना । रचनाऽर्थगताऽर्थस्य व्यक्तिः कवि-
भिर्रारिता ॥” इति स्पष्टं चित्रमीमांसायाम् । अर्थगतायाः स्वभा-

सीदाहरणं प्रसन्नतामाह,—

भटित्यर्थार्पकत्वं यत् प्रसत्तिः सोच्यते यथा ।

कल्पद्रुमं दूवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ॥६॥

वीक्ष्यलङ्कारेण परिगृहीतत्वात् नाम्ना अर्थगतत्वं सम्भवति इति नव्याः ; तथाचोक्तं दर्पणकारेण,—“अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तथा पुनः” इति । शब्दगतामुदाहरति, यथेति ।—यथा तव सैन्यानां रजसा—चरणताडनोत्थितरेणुना, सूर्यं लुप्ते—आच्छादिते सति, दिवा—दिवसे अपि, रात्रिः अभूत् । अत्र रात्रिहेतुः सूर्याच्छादनं, तस्य च रजः, तस्यापि त्वत्सैन्यं हेतुः इति अर्थस्य सुखगम्यता शब्दमृदुत्वमूला इति अर्थव्यक्तिः । इदं शब्दगताया उदाहरणम्, अर्थगतायास्तु यथा,—“मृद्वीका रमिता मिता समशिता स्कीतं निपीतं पयः स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाऽधरः खण्डितः । तत्त्वं ब्रूहि मदीय-जीव ! भवता भूयो भवे भ्रात्र्यता क्लृण्वत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः कचिल्लक्षितः ? ॥” इति स्पष्टं काव्यालङ्कारे ॥ ८ ॥

प्रसन्नतां लक्षयति, भटितीति ।—भटिति—अविलम्बेन, पठन-श्रवणमात्रेण इत्यर्थः, यत् अर्थार्पकत्वम्—अर्थबोधकत्वं, बुधैः,—पण्डितैः, सा प्रसत्तिः,—प्रसन्नता, उच्यते । इदं शब्दगतायाः प्रसन्नताया लक्षणम्, अर्थगतायास्तु—“प्रसिद्धार्थैः पदैर्यत्र प्रसन्नं वर्णनं भवेत् । स प्रसादोऽर्थगः—” इति स्पष्टञ्चालङ्कारशेखरे । शब्दगतामुदाहरति, यथेति ।—यथा जिनः,—बुद्धदेवः, वाञ्छितार्थप्रदः,—अभीष्टवस्तुदानपरः, अत एव कल्पद्रुमः इव—कल्पतरुः इव, आभाति—राजते । अत्र अर्थस्य भटिति प्रतीतिः प्रसन्नता । इदं शब्दगताया उदाहरणम् ; अर्थगतायास्तु—“स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणामभङ्गुर-

सोदाहरण समाधिमाह,—

स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।

यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राक्षः पल्लवितं यशः ॥१०॥

श्लेषमोजमाह,—

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।

ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिमुन्दरम् ॥११॥

तनुत्विषां बलयिता शतैर्विद्युताम् । कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुर-
द्रुमालम्बिनो मदीयमतिचुम्बिनो भवतु काऽपि कादम्बिनो ॥”
इत्युदाहरणं स्पष्टञ्च रसतत्त्वविवेके ॥ ८ ॥

समाधिं लक्षयति, स इति ।—अन्यस्य—वस्त्वन्तरस्य, गुणः
अन्यत्र—अपरस्मिन् वस्तुनि, निवेश्यते—आरोप्यते, इति यत् सः
समाधिः । इदं पदगतस्य समाधेर्लक्षणम् ; अर्थगतस्य पुनः सोदा-
हरणं लक्षणं यथोक्तं चित्रमीमांसाकारैः,—“गाढत्वं शिथिलत्वञ्च
रचनायां क्रमाद् यदि । रसानुकूले ते स्यातां समाधिः सोऽर्थ-
सम्भवः ॥” इति । शब्दगतं समाधिसुदाहरति, यथेति ।—यथा अरि-
स्त्रीणां—शत्रुमहिलानाम्, अश्रुभिः,—नयनजलैः, भर्तृविनाश-
हेतुकैरिति भावः, राक्षः,—विजितुः इति भावः, यशः,—कीर्तिः,
पल्लवितं—सञ्जातपल्लवं, विस्तारं गतम् इत्यर्थः । अत्र अन्यस्य
लतावृक्षादेः पल्लवितत्वं गुणः अन्यस्मिन् यशसि निवेशितम् इति
समाधिः । अर्थगतोऽयं यथोदाहृतः चित्रमीमांसाकारैः,—“लोल-
लकावलिबलन्नयनारविन्दलीलावशंवदितलोकविलोचनायाः ।
सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्याः चेता न कस्य हरते गति-
रङ्गनायाः ॥” इति । अत्र हि पूर्वार्द्धं समासदैर्घ्येण बन्धस्य
गाढत्वं, परत्र तु पदानामसमस्ततया शैथिल्यमेव ॥ १० ॥

श्लेषम् ओजश्च लक्षयति, श्लेष इति । यत्र—यस्यां रचनायां,

श्लेषोदाहरणम्,—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरोभिर्वनचरै-

र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।

दरोन्नच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात् पुलकिता-

श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरि ॥ १२ ॥

पदानि—शब्दाः इति भावः, परस्परम्—अन्योऽन्यं, सूतानि इव—
संश्लिष्टानि इव, स्युः,—भवेयुः, सः श्लेषः । विन्यासवशात् शिथिल-
त्वेन अलक्ष्यमाणं वाक्यं श्लेषाख्यगुणयुक्तमिति फलितार्थः । शब्द-
गतोऽयमुक्तः, अर्थगतस्तु यथोक्तः काव्यालङ्कारकृता,—“अनेकार्थैः
पदैर्भव्यो बन्धोऽर्थश्लेष उच्यते” इति । समासभूयस्त्वं—समास-
बाहुल्यम्, ओजः ; समासबहुलवाक्यविशिष्टत्वं ओजोगुणवत्त्व-
मिति भावः ; तत्—ओजः, गद्येषु,—गद्यकाव्येषु, अतिसुन्दरम्—
अतिमनोहरम् । अर्थगतन्तु यथोक्तमलङ्कारशिखरकारैः,—“बन्ध-
सुन्दरताहेतुः स्वल्पं वा भूरि वर्णनम् । ओजः—” इति ॥ ११ ॥

शब्दगतं श्लेषमुदाहरति, मुदेति ।—त—प्रसिद्धाः, कुल-
शिखरिणः,—कुलपर्वताः, अपि “महेन्द्रो मलयः सद्यः शुक्तिमा-
नृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारि(पा)यात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ॥”
इत्युक्ताः सप्त पर्वता इति भावः, वनचरैः,—व्याधैः, सहचरोभिः,
—सङ्गिनीभिः, कामिनीभिरिति यावत्, सह मुहुः,—पुनः पुनः,
उद्गीतम्—उच्चैर्गीतं, कीर्तितमित्यर्थः, हेलया—अवलोलया,
उद्धृतः,—विनाशितः, धरणेः,—भुवः, भारः,—क्लेशः इति यावत्,
दुष्टराजन्यात्पीडनजनित इति भावः, येन तत् तादृश,
यस्य—रान्नः, भुजबलं—बाहुवैर्यं, श्रुत्वा—आकर्ण्य, दरोन्न-
च्छन्तः,—ईषदुन्मालन्तः, ये दर्भाङ्कुराः,—कुशाङ्कुराः, तेषां
निकरः,—समूहः, स एव दम्भः,—व्याजः, यद्वा,—तस्य दम्भः
तस्मात्, मुदा—आनन्देन, पुलकिताः,—सञ्जातपुलकाः सन्तः,

ओजस उदाहरणम्,—

“समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरःसरससिन्दूरपूर-
परिचयेनेवारुणितकरतलो देवः” [इति गद्यम्] ॥ १३ ॥

चमत्कारोद्वेकं—विस्मयविकासं, दधिरे—धृतवन्तः । अत्र सर्वा-
ण्येव पदानि राजकीर्तिसर्व्वव्यापित्वरूपार्थबोधने एकसूत्रनिबद्ध-
मणिगणाः इव स्यूतानि इति श्लेषः । अत्र शिखरिणी कन्दः ।
अर्थगतः श्लेषो यथा,—“करघटितचक्रघटनो नित्यं पीताम्बर-
स्तमोऽरातिः । निजसेविजाड्यनाशनचतुरो हरिरस्तु भूतये भव-
ताम् ॥” इति । करः,—पाणिः, कराः,—किरणाः, चक्रं—सुद-
र्शनं, कालचक्रं वा, अम्बरम्—आकाशः, वसनं वा, तमः,—
राहुः, अम्भकारो वा, जाड्यम्—अज्ञानं, मूर्खत्वं वा, हरिः,—
विष्णुः, सूर्यो वा । इत्येवं पदानामनेकायतया बन्ध उपमापर्य्य-
वसायीति भव्यः । स्पष्टश्चरसतत्त्वविवेके ॥ १२ ॥

गद्येन शब्दगतम् ओजः उदाहरति, समरेति ।—समरः,—
सङ्ग्रामभूमिः, एव अजिरम्—अङ्गणं, तत्र स्फुरन्ति—राजन्ति,
यानि अरिनरेशानां—शत्रुनृपतीनां, करिनिकरस्य—गज-
समूहस्य, शिरांसि, छिन्नानि इति भावः, तेषु सरमाः,—
आर्द्राः, ये सिन्दूरस्य पूराः,—कुल्याः, तेषां परिचयेन—सङ्गेन,
इव अरुणितं—रक्तोक्तं, करतलं यस्य तथाभूतः, देवः,—
राजा, विराजते अत्र इति शेषः । अत्र समासबाहुल्यात्
ओजोगुणः । अर्थगतमोजो यथा,—“सरसिजवनबन्धुश्रीसमा-
रम्भकाले रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति । परमपुरुष-
वक्त्रादुद्गतानां नराणां मधुमधुरगिराञ्च प्रादुरासीद्विनोदः ॥”
इति । इदञ्च पद्यं चित्रमोमांसायाः । अत्र हि पूर्वार्द्धेन
“प्रभाते” इति स्वल्पमेव तथा वर्णितम् ; एवं तृतीयेन पादेन
ब्राह्मणानां गिरामित्यनेन “उद्गतानाम्” इत्यत्रान्वये वेदाना-

सोदाहरणे माधुर्यसौकुमार्यं आह,—

सरसार्थपदत्वं यत् तत् माधुर्यमुदाहृतम् ।

अनिष्टुराक्षरत्वं यत् सौकुमार्यमिदं यथा ॥१४॥

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोलः

कुचकलशनिधानस्येव रक्षाऽधिकारी ।

मिति च स्वल्पोऽर्थो विस्तरेणोक्तः । एवं भूरिवर्ण्यस्य स्वल्पतया वर्णनेऽप्यूह्यम् । गद्यगतस्यास्यैवोदाहरणं यथा,—“तनयमैनाक-
गवेषणलम्बाकृतजलधिजरठप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया, भग-
वत्या भागौरथ्याः सखी ।” इति, अत्र हि—पातालगामिन्या
इत्यर्थः “तनय...मानायाः” इत्यनेन विशदीकृतः ॥ १३ ॥

माधुर्यं सौकुमार्यञ्च लक्षयति, सरसेति ।—यत् सरसः,
—रसयुक्तः, अर्थः यत्र तादृशं पदं यत्र वाक्ये तस्य भावः
तत्त्वं, रसपेतार्थज्ञापकशब्दशालित्वमित्यर्थः, तत् माधुर्यं—
तन्नामा शब्दगुणः, उदाहृतम् ; तथा यत् अनिष्टुराक्षरत्वं
—अकर्कशवर्णत्वम्, इदं—तत्, सौकुमार्यम्, उदाहृतमिति
पूर्वतोऽन्वेति । माधुर्यमर्थगतं पुनर्यथोक्तं रसगङ्गाधरकारैः,—
“अर्थदुःश्रवताहानी माधुर्यं चार्थसम्भवम् । अर्थक्लिष्टत्वशून्यत्वे
पुनः स्यात् सुकुमारता ॥” इति ; वस्तुतस्तु माधुर्यसौकुमार्यं
उभे अपि न भिन्ने तात्पर्येति लक्षणानतिरेकात् ।

माधुर्यमुदाहरति यथेति ।—कुचकलशनिधानस्य—कुचौ
—स्तनी, एव कलसौ—कुम्भौ, तावैव निधानं—कोषः तस्य,
स्तनकलसरूपरत्नागारस्येत्यर्थः, रक्षाऽधिकारी इव—रक्षायां
नियुक्तः इव इत्यर्थः, तद्वत् कर्तुमुपदिष्ट इवेति भावः, फण-
मणिः,—फणस्थितं रत्न, (“रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि
च” इत्यमरः) तस्य किरणाल्या—मयूखप्रवाहेण, स्यूतः,—प्रीतः,

उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः

किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥ १५ ॥

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव

देव ! त्वदीयः करवाल एषः ।

नो चेदनेन द्विप्रतां मुखानि

श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥ १६ ॥

व्याप्तः इति यावत्, अत एव चञ्चन्—स्फुरन्, निचोलः,—
स्त्रियाः प्रच्छदपटः (“निचोलः प्रच्छदपटः” इत्यमरः) येन
तथाभूतः, उरसि—वक्षसि, स्त्रियाः इति भावः, विशदः,—
स्वच्छः, निर्मल इति यावत्, यः हारः तद्वत् स्फारतां—दैर्घ्यम्,
उज्जिहानः,—प्राप्नुवन्, प्राप्तुम् अर्हन् इत्यर्थः, कुण्डली—भुजङ्गः,
(“...भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः ।...कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवाः काको-
दरः फणो” इत्यमरः) कुण्डलिन्याः,—कुण्डले—तदाख्ये कण-
भूषणे, विद्यते यस्याः तथाक्तायाः, कुण्डलालङ्कृतायाः इत्यर्थः,
कान्तायाः इति शेषः, करसरोजे—करकमले, किमिति—कथं,
तिष्ठति इति शेषः । कुचमण्डलरूपानुपमरत्नकुम्भरक्षणार्थं निशु-
क्तस्य भुजङ्गस्य रक्षणोपयोगं कुचमण्डलमुत्सृज्य करपद्मे अवस्थानं
कथमिति नायकस्य वितर्कः इति बोध्यम् । अत्र नायिकायाः
हस्तस्थितं हारं दृष्ट्वा कस्यचित् कामिनः सर्पभ्रान्तिः इति शृङ्गार-
रसानुगुणबन्धनात् माधुर्यम् । शिखरिणो वृत्तम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

एव माधुर्यमुदाहृत्य सांकुमार्यमुदाहरति, प्रतापेति ।—
हे देव !—हे राजन् ! त्वदीयः,—तव सम्बन्धो, एषः,—पुरे
वर्तमानः, करवालः,—असिः, प्रतापदोपस्य—तव ज्वलत्प्रता-
पस्य इत्यर्थः, अञ्जनराजिः,—ऋज्जललेखा एव, विद्यते इति

उपसंहरति,—

गुणैरमीभिः परितोऽनुविद्धं

मुक्ताफलानामिव दाम रम्यम् ।

देवौ सरस्वत्यपि कण्ठपीठे

करोत्यलङ्कारतया कवित्वम् ॥ १७ ॥

इति बाम्बटालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

शेषः, नो चेत्—यदि तथा न इत्यर्थः, तदा अनेन—कर-
वालेन, तद्दर्शनेन इति भावः, द्विषतां—शत्रूणां, मुखानि
श्यामायमानानि—मलिनत्ववन्ति, कथं कृतानि—वृत्तानी-
त्यर्थः ; यद्वा,—अनेन—करवालेन, (कर्त्ता) द्विषतां मुखानि
श्यामायमानानि कथं कृतानि ? अत्र पदानां कोमलत्वात्
सौकुमार्यम् । उपजातिः वृत्तम् ॥ १६ ॥

गुणनिवेशनफलं निर्दिशन् प्रकरणमुपसंहरति, गुणैरिति ।
—देवौ—दीप्तिमतो, सरस्वतो अपि मुक्ताफलानां दाम इव—
हारम् इव, अमीभिः,—उक्तैः इत्यर्थः, गुणैः,—माधुर्यादिभिः,
सूत्रैश्चेत्यर्थः, परितः,—सर्वतः, अनुविद्धम्,—अन्वितं, स्यूतञ्चेति
भावः, अत एव रम्यं—मनोज्ञं, कवित्वं—काव्यम्, अलङ्कार-
तया—अलङ्कारभावेन, कण्ठपीठे—कण्ठस्थल्यां, करोति—
धत्ते ; यथा वराङ्गनाभिः महार्हैरन्नहारं कण्ठशोभार्थं सस्पृहं
धार्यते, एवं माधुर्याजः प्रसादादिगुणसमन्वितं सुष्ठु काव्यं
देव्या सरस्वत्या अपि स्वकण्ठशोभार्थं महार्हभूषणतया
क्रियते इति भावः । एतेन सहजसौन्दर्यायाः सरस्वत्या अपि
सुकविता भूषणं, किं वक्तव्यं मर्त्यानामिति काव्योत्कर्षः
सूचितः । उपजातिः वृत्तम् ॥ १७ ॥

इति तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

चतुर्थः परिच्छेदः ।



अलङ्कारान् लक्षयति,

दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।

स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलङ्घ्रियोच्चयम् ॥ १ ॥

अलङ्काराणां नामानि,—

चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासौ यमकं ध्वन्यलङ्घ्रियाः ।

अर्थालङ्कृतयो जातिरूपमा रूपकं तथा ॥ २ ॥

अथ अलङ्कारान् वक्तुं प्रस्तुवन् तदुपयोगित्वमाह, दोषैरिति ।
—दोषैः,—पूर्वोक्तैः अनर्थकादिभिः, मुक्तं—विरहितं, तथा
गुणैः,—प्रागुक्तैः औदार्यादिभिः, युक्तम् अपि, वचः,—कवेर्वाक्यं,
येन—अलङ्कारसमुदायेन, उज्झितं—विहीनं सत्, स्त्रियाः,—
नार्याः, रूपम् इव नो भाति—न राजते, तम् अलङ्घ्रियोच्चयम्
—अलङ्घ्रियाणाम्—अलङ्काराणां शब्दगतानामर्थगतानाञ्चेत्यर्थः,
उच्चयः,—समूहः, तं, सर्वान् अलङ्कारानिति भावः, ब्रुवे—
कथयामि ; यथा पातिव्रत्यादिगुणोपेता काण्वाधिर्यादि-
दोषपरिहीनाऽपि उत्तमाङ्गना भूषणहीना लोके नादरणीया,
तथा अनर्थकत्वादिदोषपरिशून्यं माधुर्यादिगुणसमन्वितमपि
कविवचः श्लेषोपमादिभिरलङ्कारैर्विना सभ्यानां चेतश्चम-
त्कारितां नावहतीति अलङ्काराणामपि उपादेयत्वमिति
भावः ॥ १ ॥

अलङ्काराश्च शब्दगता अर्थगताश्चेति द्विविधा इति निर्दिशन्
तेषां नामानि आह, पञ्चभिः श्लोकैः चित्रमित्यादिभिः ।—

प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशयः ।
दृष्टान्तव्यतिरेकौ चापङ्गुतिरुल्ययोगिता ॥३॥
उत्प्रेक्षाऽर्थान्तरन्यासः समासोक्तिर्विभावना ।
दीपकातिशयौ हेतुः पर्यायोक्तिः समाहितम् ॥४॥
परिवृत्तिर्यथासङ्गं विषमः ससहोक्तिकः ।
विरोधोऽवसरः सारं संश्लेषश्च समुच्चयः ॥५॥
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादेकावल्यानुमाऽपि च ।
परिसङ्गा तथा प्रश्नोत्तरं सङ्कर एव च ॥६॥

चित्रम् इत्यादीनि अलङ्कारनामानि ज्ञेयानि । तत्र १ चित्रम्,
२ वक्रोक्तिः, ३ अनुप्रासः, ४ यमकम्, एते चत्वारः ध्वन्यलङ्काराः,
—शब्दालङ्काराः; एवं १ जातिः, २ उपमा, ३ रूपकम्, ४ प्रति-
वस्तूपमा, ५ भ्रान्तिमान्, ६ आक्षेपः, ७ संशयः, ८ दृष्टान्तः,
९ व्यतिरेकः, १० अपङ्गुतिः, ११ तुल्ययोगिता, १२ उत्प्रेक्षा,
१३ अर्थान्तरन्यासः, १४ समासोक्तिः, १५ विभावना,
१६ दीपकम्, १७ अतिशयः, १८ हेतुः, १९ पर्यायोक्तिः,
२० समाहितम्, २१ परिवृत्तिः, २२ यथासङ्गम्, २३ विषमः,
२४ सहोक्तिः, २५ विरोधः,—विरोधाभासः, २६ अवसरः,
२७ सारम्, २८ संश्लेषः,—श्लेषः, २९ समुच्चयः, ३० अप्रस्तुत-
प्रशंसा, ३१ एकावली, ३२ अनुमा—अनुमानम्, ३३ परि-
सङ्गा, ३४ प्रश्नोत्तरम्, ३५ सङ्करश्चेति । जात्यादयः सङ्करान्ताः
पञ्चत्रिंशसङ्ख्याकाः अर्थालङ्कारतयः,—अर्थालङ्काराः, ज्ञेया इति
शेषः ॥ २—६ ॥

चित्रमाह,—

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।

सत्यां प्रसक्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥७॥

उदाहरति,—

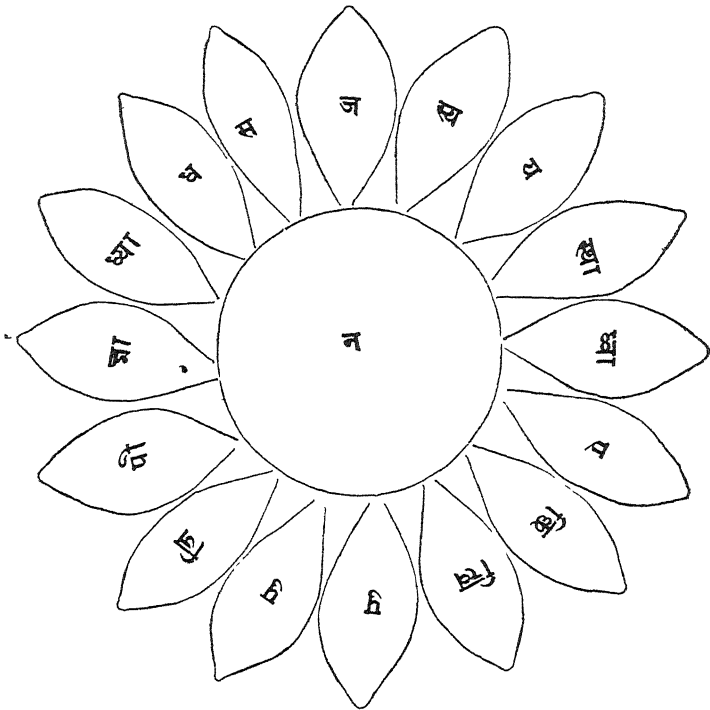
जनस्य नयनस्थानध्वान एनश्छिनत्विनः ।

पुनः पुनर्जिनः पोन्नज्ञानध्यानधनः स नः ॥ ८ ॥

एवं शब्दालङ्कारान् अर्थालङ्कारांश्च नामतो निर्दिश्य तत्र आदौ उद्देशक्रमप्राप्तं चित्रालङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्यां रचनायाम्, अङ्गानाम्—अवयवान्, सन्धिः,—सङ्कलनं, तत्र—सङ्कलनविषये इत्यर्थः, तद्रूपैः,—तदनुरूपैः, तदनुकूलैः इति भावः, अक्षरैः,—वर्णैः, वस्तुनः,—प्रतिपाद्यस्य, कल्पना—कमलदलच्छत्रादिरूपेण रचना, विद्यते इति शेषः, तत्—तादृक् कल्पनमित्यर्थः, प्रसक्तौ—प्रसन्नतायां, प्रसादगुणशालित्वे इत्यर्थः, सत्यां—विद्यमानायां, चित्रं—तदाख्यः अलङ्कारः ; यच्च चित्रकृत्—सङ्कटनाविशेषेण चमत्कारकं, स्वरव्यञ्जनसादृश्यात्मना बन्धवैशिष्ट्येन विस्मयावहमिति यावत्, तच्च—तदपि, चित्रं—तन्नामाऽलङ्कारः ; यत्र पद्मखङ्गादिविविधबन्धनिर्माणकुशलिना कविना कमलदलच्छत्रादिरूपतदवयवतत्सन्धिसङ्कटनानुरूपाः एकस्वरा वर्णा एकव्यञ्जना वा शब्दाः प्रयुज्यन्ते, स चित्रनामालङ्कार इति भावः ॥ ७ ॥

उदाहरति, जनस्येति ।—जनस्य—लोकस्य, नयने—नेत्रे, स्थानं—पदं, यस्य तादृशः, ध्वानः,—शब्दः, निर्वाणप्रवर्त्तकवचनम् इति भावः, यस्य तथाभूतः, यस्य निर्वाणे अपि उपदेशपूर्णं सन्दर्भं लोकाः सततं पश्यन्ति इति भावः, पीने—परिपुष्टे, परिपाकं प्राप्ते इति यावत्, ये ज्ञानध्याने—ज्ञानं

षोडशदलकमलबन्धचित्रम् ।



गोमूत्रिकाबन्धचित्रञ्च ।

| | | | | | | | | | | | | | | | |
|----|----|-----|----|----|----|------|---|------|---|------|---|----|----|------|----|
| ज | न | स्य | न | य | न | स्था | न | ध्वा | न | ए | न | छि | न | त्वि | नः |
| पु | नः | पु | नः | जि | नः | पी | न | ज्ञा | न | ध्या | न | ध | नः | स | नः |

—पदार्थतत्त्वविचारः, ध्यानं—स्वस्वरूपानुसन्धानमित्यर्थः, ते
 'धनं—सम्पत्, वैभवमिति यावत्, यस्य तादृशः, [पोनज्ञानध्यान-
 चनः इति पाठान्तरे तु—पीने—महती, ज्ञानध्याने,—ज्ञानं—
 तत्तदागमोपदेशात्मको बोधः, ध्यानं—समाधिः ध्येयचिन्तनमिति

यावत्, ताभ्यां घनः,—पूर्णः, इत्यर्थः] इनः,—स्वासी, (“इनः पत्थौ
नृपार्कयोः” इति मेदिनी) सः,—प्रसिद्धः, जिनः,—बुद्धः, पुनः
पुनः,—वारंवारं, नः,—अस्माकम्, एनः,—पापं, (“एनः पापाप-
राधयोः” इत्यमरः) क्तिन्तु—नाशयतु । इदं षोडशदलपद्मबन्ध-
चित्तं गोमूत्रिकाबन्धचित्तञ्च यद्यपि “पुनः” “इनः” “स नः” इत्यत्र
विसर्गपरो नकार आवश्यकः, “जनस्य” इत्यादौ च नकारो
निविसर्गपर इति बन्धवैषम्यमापद्यते, तथाऽपि “ग्रमकश्लेषचित्तेषु
बवयोर्दलयोर्न भित् । नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥”
इत्याद्युक्तदिशा न तद् दोषायेति सहृदयैर्विभावनीयम् । यद्वा,—

“नमस्ते महिमप्रेमनमस्यामतिमहम् ।

क्षामसोम नमत्काम धामभीम समक्षम् ॥”



अस्यार्थः,—महिमनि—प्रेमा यस्य, तेन तस्य वा नमस्य
प्रणामयोग्य, अमतिमतो दास्यतीति अमतिमहम्, क्षामः,—

एकस्वरचित्रीदाहरणम्,—

गणवरगणवरकरतरचरण !

परपदशरणगजनपथकथक ! ।

अमदन ! गतमद ! गजकरयमल !

शममय ! जय भयघनवनदहन ! ॥ ८ ॥

कलामात्रेण चूडासङ्गतः सीमो यस्य ; नमन्—भग्नः कामो यस्मात् ; धाम्ना—तेजसा, भौम—भयानक, समा—सकल-
व्युत्थानहेतुसाधारणी, क्षमा—क्षान्तिः यस्य, [एतानि सम्बोधनविशेषणानि] ते—तुभ्यं नमः । यद्वा नमस्येति लोट्, तं नमस्य—प्रणामं कुरु । तत्र तु ते तुभ्यं नमः,—नमस्कृते कश्चिदिति शेषः । इति सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तमुदाहरणमेव निर्विवादविशुद्धत्वेनोपादेयम् ॥ ८ ॥

एकस्वरचित्रं दर्शयति, गणवरिति ।—गणेषु—नरसमूहेषु, वराः,—श्रेष्ठाः, तेषां गणः,—सङ्घः, तस्य वरं—वाञ्छितार्थम्, अतिशयेन कुरुतः इति करतरौ—विशेषेण साधकौ, चरणौ यस्य तत्सम्बुद्धौ, तथोक्त ; चरणोपासकजनानामत्यन्तमभीष्टप्रद इत्यर्थः । परपदं—निर्व्वीणम्, एव शरणम् आश्रयः, तत् गच्छन्ति ये ते परपदशरणगाः, जनाः तेषां पत्न्याः, तस्य कथकः,—कर्त्तव्योपदेष्टेति यावत्, तत्सम्बुद्धौ तथोक्त ; हे अमदन !—निष्काम ! हे गतमद !—निरहङ्कार ! गजस्य इव करयमलं करयुगं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे गजकरयमल !—महाबाहो ! इत्यर्थः, हे शममय !—शान्तिस्वरूप ! भयेन घनानि—निविडानि, पूर्णानि इत्यर्थः, यानि वनानि—अरण्यानि, संसारा इति भावः, यद्वा भयानि—भीतयः, एव घन-वनानि—निविडारण्यानि, तेषां, अथवा भयं—भीतिः, तदेव

घनवनं—भयङ्करमरणं तस्य, दहनः,—अग्निः, तद्दिनाशकः
 इत्यर्थः तत्सम्बुद्धौ ; जय—सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । अत्र मणिगुण-
 निकरश्चन्द्रः,—“वसुमुनियतिरिति मणिगुणनिकरः” इति तल्ल-
 क्षणात् । इहं अन्यलघूनां गुरुत्वं तु “वा पादान्ते” इत्युक्त-
 दिशाऽवसेयम् । वस्तुतस्तु,—“वैधैरेनैरैशैरेन्दैरैजैरैलैर्जनैः सैधैः ।
 मैत्रैर्नैर्कैर्धैर्यैर्वैरैदैः स्वैः स्वैरै देवैस्त्वैस्तैः ॥” इति सरस्वतीकण्ठा-
 भरणीयं दीर्घैकस्वरम् । अस्यार्थः,—विधिः,—विरिञ्चिः, ईः,—
 लक्ष्मीः, तस्या इनः,—प्रभुः, विष्णुरित्यर्थः, ईशः,—महादेवः,
 इन्द्रः,—वासवः, ईजः,—कामः, लक्ष्मीपुत्रत्वात् ; इला—पृथ्वी,
 जिनः,—बुद्धः, सिद्धा—देवविशेषाः, मित्रः,—सूर्यः, रैदः,—
 धनदः, कुवेर इति यावत्, देवा,—उक्तव्यतिरिक्ता मरुदादयः ;
 एषां सम्बन्धिभिः धैर्यैः,—धृतिभिः, स्वैः,—वित्तेश्व, नैकैः,—
 अनेकविधैः, तैस्तैः,—प्रसिद्धरूपैः, अहमिति शेषः, स्वैरै,—सुष्ठु
 आ समन्तात् एरै समृद्धो भवानीत्याशंसा ; वै—वाक्यालङ्कारे ।
 [अत्र “एरै” इति क्रियापदं ईरगती इत्यस्य लोटिरूपम्] ।

“उरुगुं द्युगुं युत्तु चुक्रुशुस्तुष्टुवुः पुरु ।

लुलुभुः पुपुषुर्मुत्तु मुमुहुर्नु मुहुर्मुहुः ॥”

इति ऋस्वैकस्वरं वा पद्यं स्वरचित्रोदाहरणतया निवेश्यम् ।
 अस्यार्थः,—उरुगुं—विस्तीर्णवाचम् ; द्युगुं—स्वर्वासिनाम्
 आचार्यम् । युत्तु—युद्धार्थं, [“निमित्तात् कर्मयोगे” इति
 वार्तिकेन निमित्तार्थेयं सप्तमी] गीर्वाणभटाः इति शेषः,
 चुक्रुशुः,—आर्त्ताः शरणं ययाचिरे ; अत एव पुरु बहुधा
 तुष्टुवुः । युद्धप्रयोजनमाह,—मुत्तु—हर्षेषु, लुलुभुः, पुपुषुः,—
 पुष्टा बभूवुः ; नु—वितर्के । मुहुर्मुहुः,—वारंवारं, किं मुमुहुः,
 —मोहमासादितवन्तः । यतः क्रोशनादीनामव्यवस्थेति
 भावः ॥ ८ ॥

मात्राच्युतकमुदाहरति,—

मूलस्थितिमधः कुर्वन् पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः ।

विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पयि कस्य सः ॥ १० ॥

[विटपदात् इकारमात्रच्युतकं वटः इति]

इकारमात्रस्य परिवर्त्तनेन अर्थवैचित्र्यापादकं स्वरचित्त-
मुदाहरति, मूलेति ।—मूलस्थितिं—कुलमर्यादाम्, अधः कुर्वन्
—अपनयन्, अनादरयन्नित्यर्थः, कुपयेन गच्छन्निति यावत्,
गताक्षरैः,—निरक्षरैः, मूर्खैः इत्यर्थः, पात्रैः,—नटैर्विदूषकादिभि-
रित्यर्थः, जुष्टः,—सेवितः, सः विटः,—धूर्तः, “सम्भोगहीन-
सम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः । वेशीपचारकुशलो वाग्मी
मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥” इत्युक्तलक्षणः नाटकपात्रविशेषः
इत्यर्थः, पयि—सदाचारमार्गे, तिष्ठतः,—तमनुतिष्ठतः, कस्य कुली-
नस्य—सत्कुलप्रसूतस्य पुरुषस्य, सेव्यः,—पूज्यः ?—न कस्यापि
इत्यर्थः । विटपदात् इकारच्युतौ तु अर्थान्तरं यथा—अधः,
—तलदेशे, मूलस्थितिं,—मूलैः,—शिफाभिः, (शिकङ् इति
भाषया प्रसिद्धिः) यद्वा,—मूलानां स्थितिम्—अवस्थानं,
कुर्वन् गताक्षरैः,—गतः आ समन्तात् क्षरो नाशः येषां तैः,
यद्वा—गतानि—प्राप्तानि, काले सङ्गतानि इति यावत्,
अक्षराणि—अविनश्वराणि, दृढानि इति यावत्, तैस्तथोक्तैः,
[अत्र विशेषणविशेष्यभावस्य प्रायिकत्वात् विशेषणसमासः]
पात्रैः,—पतनात् त्रायन्ते इति पात्राणि तैः, जटाभिः इत्यर्थः;
[चत्रादिशब्दवत् क्तिञ्चन्तपत्धातुनिष्पन्नपत्शब्दपूर्वकात्
“त्रैङ् पालने” इत्यस्मात् धातोः उप्रत्ययेन “पत्रम्” इति
सिद्धं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अण्प्रत्ययेन पात्रमिति सिद्धम्]
यद्वा—पात्रैः,—पत्रैरित्यर्थः, (“पात्रं सुवादी पर्णं च” इति
विश्वः) जुष्टः,—सेवितः, आकीर्णः इति यावत्, सः,—प्रसिद्धः,

विन्दुच्युतकमुदाहरति,—

धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।

गुरुणां वच्चने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥ ११ ॥

वटः, कुलीनस्य—कौ—पृथिव्यां, लीनस्य, अध्वगमनश्रमात् अवसादं गतस्य इत्यर्थः, अत एव, तिष्ठतः,—स्थितिं कुर्वतः, विश्रामेच्छयोपासीनस्येति यावत्, पथिकस्य सेव्यः,—आश्रयणीय इत्यर्थः । स्फुटं चैवं अक्षरच्युतौ द्वितीयार्थोपपत्तेः चमत्कारित्वात् मात्राच्युतकचित्रमिदम् ॥ १० ॥

मात्राच्युताविव विन्दुच्युतावपि चमत्कारविशेष उपपद्यते इति द्योतयन्, तन्मूलं चित्रमुदाहरति, धर्मेति ।—धर्म—पुण्यानुष्ठाने, अधर्मवित्—अधर्मबुद्धिः, येषां तथोक्ताः, [अधर्मस्य वित् बुद्धिः, विद्यते—ज्ञायते इति वित् । सम्पदादित्वात् भावे क्तिप्] यद्वा,—धर्ममेव अधर्मं विदन्ति—जानन्ति इति तथोक्ताः, साधूनां—सज्जनानां, पक्षस्य—सहायस्य, मतस्य वा, पाते—पातने, समुद्यताः—साग्रहाः, सज्जनावमानिनः इत्यर्थः, गुरुणां—पूज्यानां, वच्चने—प्रतारणे, निष्ठाः,—नितराम् आसक्ताः इत्यर्थः, जनाः नरके दुःखितां—दुःखभागित्वं, यान्ति—प्राप्नुवन्ति । अत्र “वच्चने” इत्यस्य नकारजातानुस्वारच्युतौ हे नर ! —मानव ! धर्माधर्मविदः धर्मश्च अधर्मश्च इति तौ विदन्ति—जानन्ति, इति तथोक्ताः, कः धर्मः कश्च अधर्मः इति ज्ञानवन्त इति भावः, अत एव, साधुपक्षपातसमुद्यताः,—साधूनां—सज्जनानां पक्षः,—सिद्धान्तः, तत्र पातः,—अभिनिवेशः, तेन समुद्यताः, साधुजनमतानुरागवन्तः इत्यर्थः, यद्वा,—साधूनां पक्षः,—समाजः, तस्य पातं—रक्षणं, [पाते भावे क्तः] तत्र समुद्यताः,—सज्जनानां साभिनिवेशं रक्षितारः इति, सत्साहाय्ये सयत्ना इति भावः, गुरुणां—पितृादीनां, वच्चने—आज्ञापालने, निष्ठाः,

एकव्यञ्जनचित्रमुदाहरति,—

ककाकुकाङ्ककेकाङ्ककेकिक्कीककुः ककः ।

कुकुक्कीकःकाककाककक्काकुकुकाङ्ककुः ॥ १२ ॥

—स्थिताः इत्यर्थः, के जनाः दुःखितां यान्ति ?—दुःखिनो भवन्ति ? न के अपि इत्यर्थः । अत्र अनुस्वारच्युतिमात्रेण विलक्षणस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः भटिति सहृदयानां हृदयमधिरोहतीति बिन्दुच्युतेः चमत्कारित्वात् चित्रमिदम् ॥ ११ ॥

एकव्यञ्जनचित्रं दर्शयति, ककेति ।—समुद्रवर्णनम् इदम् ।
कं—सुखम्, अस्यामस्तीति, का, सुखजनिका इत्यर्थः [अर्श-आदि-त्वात् अच्प्रत्ययः टाप् च] तादृशी काकुः,—ध्वनिविशेषः, येषां ते, ककाकवः, ये कङ्काः,—जलपक्षिभेदाः, वकविशेषाः इत्यर्थः, तथा केकाङ्काः,—केका—कूजितविशेषः, अङ्कः,—चिह्नं येषां तथोक्ताः, केकारवचिह्निता इत्यर्थः, सततं केकारवं कुर्वन्तः इति भावः, ये केकिनः,—मयूराः, कोकाः,—चक्रवाकाः, च, तेषाम् एका,—अद्वितीया, कुः,—स्थानं, निलयः इत्यर्थः, तथा कवः,—कुक्षिताः, कवः,—कुक्षिताः, इति कुकवः,—कुक्षित-कुक्षिताः, अतिकुक्षिताः इत्यर्थः, यद्वा,—कौ—पृथिव्यां, कवः,—कुक्षिताः कुकवः, कं—जलम्, ओकः,—स्थानं, येषां ते कौकसः, जलवासिनः, तथा काकाः एव काककाः, [स्वार्थं कन्प्रत्ययः] तान् आकयन्ति—प्रीणयन्ति, इति ते—कुकुक्कीकाःकाक-काककाः, तेषां ऋचः,—ऋग्वेदीयमन्त्रविशेषाः, इति भावः, तत्तन्मन्त्रैः काकेभ्यः बलिः उपक्रियते इति तेषां मन्त्राणां काक-प्रीणनत्वम् इति भावः, ताः एव काकवः,—ध्वनिविशेषाः, तान् कीकति—उच्चरति इति कुकुक्कीकःकाककाककक्काकुकुः, [कुकिघातोः कप्रत्ययः] तथाभूतः कः,—ब्रह्मा, अङ्के—उत्सङ्गे, यस्य तथाक्तः, कुकुक्कीकःकाककाककक्काकुकुकाङ्कः,—विष्णुः,

अचरच्युतकमुदाहरति,—

कुर्वन् दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम् ।

देव ! यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥ १३ ॥

तस्य कुः—स्थानम्, आवामः इत्यर्थः, ककः,—केन—वायुना, सह कं—जलं, यत्र तथोक्तः ककः,—वारिधिः इत्यर्थः, वर्तते इति शेषः । अत्र एकाक्षरत्वेन कवेरलौकिकसङ्कलनाशक्तिं प्रकटयन् पाठकस्य मनसि विस्मयमुत्पादयतीति चमत्कारित्वमिति एकव्यञ्जनचित्रमिदम् ॥ १२ ॥

ककाररूपैकव्यञ्जनच्युतिमूलं चित्रमुदाहरति, कुर्वन्निति । —राजसेनावर्णनमिदम् । हे देव !—स्वामिन्, युष्माकम् इयम्—यौष्माकी, या सेना तस्याः [सम्बोधनपदयुष्मत्पदयोः तुल्यवचनकत्वनियमे सत्यपि, अत्र “देव” इत्येकवचनान्तसम्बोधनपदात् परं “यौष्माकसेनायाः” इति बहुवचने युष्मत्प्रयोगः उक्तनियमस्य प्रायिकत्वेन कथञ्चित् समर्थनीयः] असौ करेणुः,—हस्ती, दिवा—आकाशेन सह, कराश्लेषं—करस्य—शुण्डादण्डस्य, आश्लेषं—सङ्घर्षं कुर्वन्, तथा रणस्य—सङ्ग्रामस्य,—डम्बरं—निर्भरन्यासं, दधत्—धारयन् च ; यद्वा,—चरणानां—पादानां डम्बरं—समरं, सशब्दं न्यासञ्च दधत्, प्रसरति—चलति । अत्र “करेणुः” इत्यस्य ककारच्युतौ अर्थान्तरोत्पत्तिर्यथा,—हे देव ! —राजन्, यौष्माकसेनायाः,—भवदीयसेनायाः, रेणुः,—धूलिः, दिवाकरस्य—सूर्यस्य, आश्लेषं—संस्पर्शं, कुर्वन्, रणे—युद्धे, डम्बरं—भयङ्करत्वं, दधत्—धारयन् च, यद्वा,—चरणस्य—सञ्चारस्य, डम्बरम्—आङ्गडम्बरं, दधत्—पुंशन्, [“डु धाञ् धारणपोषणयोः” इत्यस्य शब्दप्रत्यये रूपमिदम्] प्रसरति—व्याप्नोति । एवं ककारच्युतौ वाक्यार्थस्य अन्यथाप्रतिपत्तिरिति चमत्कारित्वात् एकव्यञ्जनच्युतकचित्रमिदम् ॥ १३ ॥

वक्रोक्तिमाह,—

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।

भङ्गश्लेषमुखिणाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥१४॥

सभङ्गश्लेषवक्रोक्तेरुदाहरणम्,—

नाथ ! मयूरो नृत्यति

तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ? ।

ननु कथयामि कलापिन-

मिह सुखलापी प्रिये ! कोऽस्ति ? ॥ १५ ॥

एवं सप्रपञ्चं चित्रकाव्यमुदाहृत्य वक्रोक्तिं लक्षयति, प्रस्तुतादिति ।—यत्र उत्तरप्रदः,—उत्तरदाता, प्रस्तुतात्—प्रस्तावितात् अर्थात्, भङ्गश्लेषमुखिण—सभङ्गश्लेषाश्रयेण, अपरम्—अन्यं, वाच्यम्—अर्थम्, उपादाय—गृहीत्वा, आश्रित्य इत्यर्थः, आह—प्रत्युत्तरं ब्रवीति, सा एव वक्रोक्तिः कथ्यते इति शेषः ॥ १४ ॥

सभङ्गश्लेषमूलां वक्रोक्तिमुदाहरति, नाथेति ।—हे नाथ !—स्वामिन् !, मयूरः नृत्यति (इति नायिकोक्तिः) तुरगाननः,—किन्नरः, तस्य वक्षसः नृत्यं—नर्तनं, कुतः ? असम्भवम् एतत् इत्यर्थः, (“स्यात् किन्नरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः” इत्यभिधानात् “मयुः तुरङ्गवदनः तस्य उरः वक्षःस्थलं कथं नृत्यति ?” इति नायिकां प्रति नायकस्य वक्रोक्तिः) । ननु—भोः प्रिय ! कलापिनं—शिखिनं, कथयामि—शिखी नृत्यति इति ब्रवीमि इत्यर्थः, (इति नायिकोक्तिः) । हे प्रिये !—प्रणयिनि, इह—अस्मिन् देशे, कः सुखं—मधुरं, लपति—भाषते, इति सुखलापी—कलापी, इत्यर्थः अस्ति ? नैव अस्ति इत्यर्थः (इति नायकस्योत्तरम्) । अत्र कं सुखं लपति इति श्लेषेण अपरार्थाश्रयणेन

अभङ्गश्लेषवक्रोक्तेरुदाहरणम्,—

भर्तुः पार्वति ! नाम कीर्तय न चेत् त्वां ताडयिष्याम्यहं
क्रौडाब्जेन, शिवेति, सत्यमनघे ! किं ते शृगालः पतिः ? ।

नायिकां प्रति नायकस्य वक्रोक्तिः । अयं भावः,—“मयूरो
नृत्यति” इत्यत्र नायिकया मयूरपदवाच्यपक्षिविशेषरूपप्रस्तुतेऽर्थे
प्रयुक्तस्य “मयूर” इति पदस्य, उत्तरप्रदः नायकश्च तद्बुद्ध्वाऽपि
परिहासरसमधिजिगमिषुः सन् “तुरङ्गवदनो. मयुः” इत्य-
मरोक्त्या घोटकमुखकिन्नररूपेऽप्रस्तुतेऽर्थे शक्तिं स्वीकुर्वन् उरः-
पदस्य च वक्त्ररूपमर्थं गृह्णन् “मयोः,—तुरङ्गवदनस्य, उरः,—
वक्त्रःस्थलं, नृत्यति” इत्यर्थपरतया तद्वाक्यं सङ्गमयन् तुरगे-
त्यादिवाक्यम् अभिहितवान्, मद्वाक्यतात्पर्यमनेन न समधि-
गतमिति कृत्वा “मयूरशब्देन कलापिनो नामग्रहणे मदीयं
तात्पर्यम्” इति ज्ञापयितुं “कलापिनं कथयामि” इति कलाप-
विशिष्टपक्षिविशेषरूपेऽर्थे नायिकया प्रत्युक्तं, नायकेन तु तदपि
परिहासपरतया सञ्जिगमिषुणा कलापीति पदस्य ‘क’
इत्यस्य सुखे ‘लापी’ इत्यस्य च भाषी इत्यस्मिन्नर्थे शक्तिमव-
गच्छता, “सुखलापी कोऽस्ति” इत्युत्तरितम् । स्फुटञ्चैवं सभङ्ग-
श्लेषमूलेयं वक्रोक्तिरिति । नायिका च मुग्धा, नायकः धीर-
ललितश्चेति ॥ १५ ॥

अभङ्गश्लेषमूलां वक्रोक्तिमुदाहरति, भर्तुरिति ।—हे पार्वति !
—गौरि ! त्वं भर्तुः,—स्वामिनः, नाम - संज्ञां, कीर्तय—ब्रूहि,
न चेत्—भर्तृनाम न ब्रवीषि यदि इत्यर्थः, तदा अहं त्वां
क्रौडाब्जेन—लीलापद्मेन, ताडयिष्यामि—प्रहरिष्यामि । (इति
पार्वतीं प्रति विजयोक्तिः) । शिवेति—“शिव” इति, मत्पत्युः
नाम शिव इत्यर्थः, [अत्र विसर्जनोपलोपेऽपि सन्धिः, कवीनां
निरङ्कुशत्वात्] (इति पार्वत्युक्तिः) । अत्र शिवेति गौर्या

नो स्थाणुः, किमु कीलको, न हि पशुस्वामी, नु गोप्ता गवां,
दोलाखेलनकर्मणीति विजयागौर्यीर्गिरः पान्तु वः ॥ १६ ॥

प्रत्युक्ता विजया “शिव” इति, “शिवा इति” इति च पदच्छेदे
“शिवा गौरीर्गिरवयोः” इत्यमरोक्त्यनुसारेण शिवाशब्दस्य च
स्त्रीप्रत्ययान्तत्वेन शृगालीवाचकत्वे, स्त्रीप्रत्ययान्ततानिरासेन च
शृगालवाचकत्वं कल्पयित्वा पुनराह, सत्यम् इत्यादि ।—हे
अनघे !—निष्पापे ! यथार्थवादिनीत्यर्थः, ते—तव, पतिः,
—स्वामी, शृगालः,—जम्बुकः इति सत्यं—निश्चितं, किम् ?
(इयं विजयायाः गौरीं प्रत्युक्तिः) । एवं प्रत्युक्ता
पार्वती पुनः स्वप्रियनामाभिधत्ते, नो स्थाणुरिति ।—नो—
शृगालः मे पतिरिति यदाशङ्कसे तन्नैत्यर्थः, किन्तु स्थाणुः मे
पतिः इति शेषः, (इति गौर्याः पुनरुक्तिः) । स्थाणुशब्दस्य
“स्थाणुः कीले हरे पुमान्” इति मेदिन्युक्त्या कीलकवाचित्वा-
श्रयेण विजया पुनराह, किमु कीलकः इति ।—तव पतिः
कीलकः किमु—शङ्कः किम् ? (इति विजयोक्तिः) । पार्वती
पुनः आह, न हि—कीलकः मम स्वामी नैव इत्यर्थः,—किन्तु
पशुस्वामी—पशुपतिः, मम स्वामी इति शेषः । (इति
गौर्याः पुनरुक्तिः) । अत्र पशुस्वामीतिपदस्यापि योगशक्त्या-
ऽर्थान्तरमवलम्ब्य विजयाऽऽह, न्विति ।—नु—ननु तर्हि, गवां
—पशुविशेषाणां, गोप्ता—रक्षिता, गोपः इति यावत्, तव
पतिः इति शेषः, (इति विजयोक्तिः) । दोलायां खेलनं—क्रोड-
नम् एव कर्म—व्यापारः तस्मिन्, विजयागौर्याः,—पार्वत्याः
तत्सख्याश्च, इति—एवमकाराः, गिरः,—वाचः, उक्तिप्रत्युक्ति-
रूपाः इति यावत्, वः,—सुष्मान्, पान्तु—रञ्जन्तु । इदं
तत्त्वम् ;—शिवादीनां पदानामभङ्गानामेव अर्थान्तरप्रतिपाद-

अनुप्रासमाह,—

तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।

अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च संः ॥१७॥

कतया विजयायाः पार्व्वतीं प्रति वक्रोक्तिरियम् अभङ्गश्लेष-
मूला । इदञ्च प्राचां मतेन, नव्यानान्तु मतेन काकुमूलाऽपीति,
अत एव तथाऽऽहुः साहित्यदर्पणकाराः,—“अन्यस्यान्यार्थकं
वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि । अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा
वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥” इति ; उदाहरन्ति च,—“काले कोकिल-
वाचाले सहकारमनोहरे । कृतागसः परित्यागात् तस्याश्चेतो
न दूयते ॥” इति । अत्र हि नञा काकुः ॥ १६ ॥

अनुप्रासं लक्षयति, तुल्येति ।—तुल्या—समानाकारा,
श्रुतिः,—श्रवणं, येषां तानि (तादृशानि) यानि अक्षराणि—
वर्णाः तेषाम् आवृत्तिः,—पुनःपुनः आवर्त्तनम्, उच्चारणम् इत्यर्थः,
अनुप्रासः कथ्यते इति शेषः । स च स्फुरन्तः,—स्पष्टं भासमानाः,
गुणाः,—औदार्यादयः यत्र तथाभूतः, औदार्यादिभिर्गुणै रम-
णीय इत्यर्थः, भवति इति शेषः । स च द्विधा,—छेकानुप्रासः
लाटानुप्रासश्चेत्याह, अतत्पद इति ।—छेकानां—विदग्धानां,
चतुराणामिति यावत्, (“छेकस्त्रिषु विदग्धेषु” इति रभसः)
प्रयोज्यः इति शेषः, अतत्पदः,—न तानि एव पदानि यत्र सः
इति तथोक्तः, भिन्नपदः अनुप्रास इत्यर्थः । लाटानां—लाट-
देशीयजनानां, प्रयोज्य इति शेषः, तत्पदः,—पूर्वोक्तपदाश्रितः,
अभिन्नपदोऽनुप्रास इत्यर्थः ; तथा च भिन्नपदोऽनुप्रासः छेकानु-
प्रासः, अभिन्नपदः पुनरनुप्रासा लाटानुप्रास इति द्विविधोऽनु-
प्रास इति निर्गलितोऽर्थः ॥ १७ ॥

क्लिकानुप्रासोदाहरणम्,—

अलं कलङ्कशृङ्गार ! करप्रसरहेलया ।

चन्द्र ! चण्डीशनिर्मात्यमसि न स्पर्शमर्हसि ॥ १८ ॥

लाटानुप्रासोदाहरणानि,—

रणे रणविदो हत्वा दानवान् दानवद्विषा ।

नीतिनिष्ठेन भूपाल ! भूरियं भूस्त्वया कृता ॥ १९ ॥

भिन्नपदगं क्लिकानुप्रासम् उदाहरति, अलमिति ।—कस्या-
श्चित् विरहिण्याः उक्तिः इयम् । कलङ्कः,—अपवादः, शृङ्गारेण
—सुरतेन यस्य तत्सम्बुद्धौ, गुरुपत्नीरमणेनेत्यर्थः, यद्वा,—कलङ्केन
—अपवादेन, उंलक्षित इत्यर्थः, शृङ्गारः,—सुरतं, गुरुपत्नी-
गमनमिति यावत्, (“शृङ्गारः सुरते नाट्यरसे च” इति मेदिनी)
यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे कलङ्कशृङ्गार ! चन्द्र ! कराणां—किर-
णानां, प्रसरः,—विस्तारः, तस्य हिला—क्रीडा, यद्वा,—कर-
प्रसर एव हिला, तथा, किरणविसरणविलासेनेत्यर्थः, (“हेला
स्त्रियामवज्ञायां विलासे वरयोपिताम्” इति मेदिनी) अलं—
न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, किरणप्रसारणं मा कार्षीः इति
यावत् । कुत एतदित्याह, त्वं चण्डीशस्य—पार्वतीपतेः,
निर्मात्यम्—उच्छिष्टं, भुक्तशेषः इति यावत्, असि—भवसि,
अतः स्पर्शं न अर्हसि—स्पर्शयोग्यः न भवसि इत्यर्थः, “अग्राह्यं
शिवनिर्मात्यम्” इति अनुशासनात् इति भावः । अत्र प्रथमार्द्धे
ककारस्य लकारस्य रेफस्य च पुनःपुनः आवृत्तिः, द्वितीये चका-
रस्य शकारस्य सकारस्य च आवृत्तिः । एषा च वर्णमात्रावृत्तिः
भिन्नपदगति ॥ १८१ ॥

अभिन्नपदनिबन्धनं लाटानुप्रासम् उदाहरति, रणे इति ।—
हे भूपाल ! पृथिवौभारहरणात् जगत्पालक कृष्ण ! इत्यर्थः,
दानवद्विषा—दानवान्—दनुजान् द्वेष्टि इति दानवद्विट् तेन,

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि ! स्वर्गलोकसुखेन किम् ? ।

त्वं प्रिया यदि न स्या मे स्वर्गलोकसुखेन किम् ? ॥ २० ॥

एकत्र पात्रे स्वकलत्रवत्त्वं

नेत्रासृतं विखितमीक्षमाणः ।

दानवारिणा इत्यर्थः, नीतिनिष्ठेन—नीती—नये, जिष्ठा—स्थिति-
यस्य तेन, राजनीतिनिपुणेनित्यर्थः, त्वया रणे—सङ्ग्रामे, रण-
विदः,—रणपरिष्ठितान्, दानवान् हत्वा—विनाश्य, इयं—पुरो
दृश्यमाना, भूः,—पृथ्वी, भूः,—रत्नादीनां प्रसविनीति यावत्,
कृता—दिष्टिना । अत्र रण-दानव-भू-पदानाम् आवृत्तिः इति
अभिन्नपदावृत्तिमूलोऽयमनुप्रास इति भावः ॥ १९ ॥

पादावृत्त्या लाटानुप्रासम् उदाहरति, त्वमिति ।—हे
चकोराक्षि ! —चकोरनेत्रे ! त्वं मे—मम, प्रिया—प्रणयिनी, चेत्
—यदि, स्याः,—भवेः, तदा स्वर्गलोके—तदिवि, यत् सुखम्—
अमृतपानीर्वशादिसन्भोगज आनन्दः, तेन किम् ?—न किमपि
प्रयोजनम् इत्यर्थः, स्वर्गीयसुखस्य त्वत्सङ्गसुखापेक्षया तुच्छत्वा-
दिति भावः ; यदि त्वं मे प्रिया न स्याः—न भवेः, तदा स्वर्ग-
लोकसुखेन किम् ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः, त्वयि मय्य-
कर्णण्यां त्वत्सङ्गसुखविरहितस्य मम स्वर्गसुखमपि अकिञ्चित्-
करम् इति भावः । अत्र “स्वर्गलोकसुखेन किम्” इति पादस्य
द्विरावृत्तिः । “त्वं यदा दयिता कान्ते ! स्वर्गलोकेन किं पुनः ।
त्वं यदाऽदयिता कान्ते ! स्वर्गलोकेन किं पुनः ॥” इति पाठपरि-
वृत्तावपि श्लोकाद्विहितः ॥ २० ॥

बोधदाढ्याय पुनस्तमेव केकानुप्रासभेदमुदाहरति, एक-
त्रेति ।—कश्चित्—एकः, यदुभूमिपालः,—यदुराजः, स्वस्य—
आत्मनः, कलत्रस्य—कान्तायाः, वक्त्रं—वदनं, नेत्रस्य—नय-

पद्यात् पयो सीधुरसं पुरस्तात्

भ्रमाद. कश्चिद् यदुभूमिपालः ॥ २१ ॥

यमकमाह,—

स्यात् पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुताऽयुता ।

यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ २२ ॥

नस्य, अलुतम् इव सुधाभूतम्, इति नेत्रासृतं, नयनामचनकम्
इति भावः, एकत्र—एकस्मिन्, पात्रे—भाजने, पानपात्रे इत्यर्थः,
विखिनं—प्रतिफलितम्, ईक्षमाणः,—पश्यन्, पुरस्तात्—
पानात् पूर्वम्, एव ममाद—उल्लालम्, पद्यात्—प्रियामुख-
प्रतिविम्बदर्शनोन्मादात् परं, सीधुरसं—मद्यरसं, पयो—पोत-
वान् । अत्र पूर्वार्धे एकारस्य त्रकारस्य ककारस्य च, द्वितीयार्धे
सकारस्य पकारस्य मकारस्य च आवृत्तिः । अत्रापि पदावृत्त्य-
भावात् भिन्नपदगतावृत्तिनिबन्धनोऽयं ल्लेकानुग्रामः ॥ २१ ॥

यमकं लक्षयति, स्यादिति ।—भिन्नवाच्यानां—भिन्नः,—
पृथग्भूतः, वाच्यः,—अभिधेयार्थो येषां तादृशानां पृथग्भिन्नेषां-
नामित्यर्थः, पादपदवर्णानां—पादः,—पद्यस्य चतुर्थी भागः,
पदं—विभक्त्यन्तः शब्दः, वर्णाः,—अक्षराणि, चेति तेषां संयुता
—मिलिता, स्वसदृशेन पदान्तरेणैव कृतानुपङ्गेति यावत्,
अयुता—अमिलिता, कचित् स्वसदृशेन पदान्तरेण विच्छिन्ना
इत्यर्थः, आवृत्तिः,—पुनरुक्तिः, यमकं स्यात्, तच्च आदिमध्यान्त-
गोचरम्—आदिः,—आद्यपादः, मध्यः,—द्वितीयतृतीयपादौ,
अन्तः,—अन्त्यपादः, चतुर्थपाद इति यावत्, चेति ते गोचराः,
—विषया यस्य तथोक्तं भवति, प्रथमपादगतं द्वितीयपादगतं
तृतीयपादगतं चतुर्थपादगतञ्च यमकं स्यादिति भावः । तदेवं
पाद-पद-वर्णानां त्रयणाम् आवृत्तिरूपं यमकं त्रिविधम्, आवृ-

यमकीदाहरणानि,—

दयां चक्रे दयाञ्चक्रे ।

सतां तस्मात् भवान् वित्तम् ॥ २३ ॥

यशस्ते समुद्रान् सदारोरगारिः ।

सदारोरगारिः समानाङ्गकान्तिः ॥ २४ ॥

तेश्च संयुतासंयुतत्वभेदेन द्वैविध्यात् यमकस्य षड्विधत्वं, तस्य च षड्विधस्य यमकस्य आद्यद्वितीयतृतीयचतुर्थपादगोचरत्वेन चातुर्विध्यात् चतुर्विंशतिर्भेदाः ज्ञेयाः । अस्य पृथगर्थपादाद्यावृत्तिरूपतया, लाटानुप्रासस्य च अपृथगर्थपादाद्यावृत्तिरूपतया उभयोः भेदः ॥ २२ ॥

प्रथमपादस्य संयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति, दयेति ।—भवान् दयां—कृपां, चक्रे—कृतवान्, तस्मात्—ततः हेतोः, सतां—साधूनां, [“विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति” इति न्यायात् अत्र सम्प्रदानस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी] वित्तं—धनं, दयाञ्चक्रे—दत्तवान् । अत्र “दयां चक्रे” इति चतुर्वर्णात्मकस्य प्रथमपादस्य पदान्तरैरेव्यवहिततया द्वितीयपादे समानरूपेणावृत्तिः, अतः संयुतावृत्तिरूपं पादयमकमिदम् । अत्र चतुरक्षरपादस्य प्रतिष्ठावृत्तस्य वर्णप्रस्तारे कृते द्वितीयो भेदः ॥ २३ ॥

संयुतावृत्तिमूलं मध्यपादयमकमुदाहरति, यश इति ।—कस्यचित् नृपतेर्दिगन्तविस्तृतस्य यशसः वर्णनमिदम् ।—उरगारिः,—उरसा—वक्षसा गच्छन्तीति उरगाः,—सर्पाः, तेषाम् अरिः,—शत्रुः, गरुडः इत्यर्थः, तस्य समाना—सदृशी अङ्गकान्तिः,—शरीरप्रभा, यस्य तथाभूतस्य सुवर्णवर्णस्येत्यर्थः, तथा सदा—निरन्तरम्, आरोरं—दारिद्र्यं, गच्छन्ति ये ते सदारोरगाः तादृशाः अरयः,—शत्रवः, यस्य तथाविधस्य ते—तव, सत्—वर्तमानम्, उल्लृष्टं वा यशः—कीर्तिः,—समुद्रान्—वारिधीन्,

द्विषामुद्धतानां निहंसि त्वमिन्द्र ! ।

मुदं भो धराणामुदम्भोधराणाम् ॥ २५ ॥

विभातिरामा परमारणस्य

विभाति रामा परमा रणस्य ।

सदैव तेऽजोर्जितराजमान !

सदैव तेजोर्जितराजमान ! ॥ २६ ॥

आर—गतम् इत्यर्थः, [“ऋ गती” इत्यस्य धातो रूपम्] । अत्र तृतीयपादस्य द्वितीयपादरूपेण आवृत्तिः । अस्मि च स्वसमान-पदान्तररूपैवेति लक्षणसमन्वयः । अत्र सोमराजीनामच्छन्दः, “द्विया सोमराजी” इति छन्दोमञ्जरीकारोक्तेः ॥ २४ ॥

संयुतावृत्तिमूलं शेषार्थमकमुदाहरति, द्विषामिति ।—भोः, इन्द्र ! त्वम् उदम्भोधराणाम्—उद्धताः,—शृङ्गेषु समुदिताः, अम्भोधराः,—मेघाः, येषु तेषाम्, अभ्रंलिहशिखराणामित्यर्थः, उद्धतानां—पक्षशालित्वेन उद्धतानां, अत एव द्विषां—शत्रूणां, स्वपक्षविस्तारणं जगदुपद्रवकारित्वात् इति भावः, धराणां—धरन्ति पृथिवामिति धराः, तेषां, पर्वतानामित्यर्थः, मुदं—हर्षं, निहंसि—नाशयसि, पक्षच्छेदनात् इति भावः । अत्र चतुर्थपादस्य तृतीयपादसमनारूपेण आवृत्तिः । अत्रापि सोम-राजीच्छन्दः ॥ २५ ॥

एकेनैव पद्येनाद्यमध्यपादयमकं मध्यान्तपादयमकञ्च संयुतावृत्तिमूलं दर्शयति, विभातीति ।—हे अजोर्जितराज-मान !—अजः,—विष्णुः, तस्य इव ऊर्जितं—बलं, तेन राजते इति राजमानः,—क्षीप्यमानः तत्सम्बुद्धौ, यद्वा—“अजोर्जित” इति “राजमान” इति च पृथगामन्त्रणपदद्वयं, तथा च,—अजस्य—विष्णाः, ऊर्जित—बलमिव ऊर्जितं यस्य तत्सम्बुद्धौ, तथा हे राजमान !—शुभमान ! तथा सदैव तेऽजोर्जितराजमान !—

सारं गवयसान्निध्यराजि काननमग्रतः ।

सारङ्गवयसां निध्यदारुणं शिखरे गिरिः ॥ २७ ॥

सदा—सर्वदा, एव तेजसा अर्जितः,—लब्धः, राजसु—नृपति-
समाजि, मानः,—सम्मानः, येन तथोक्त ! यद्वा,—दैवेन—
भाग्येन (“दैवं दिष्टं भागधेयम्” इत्यमरः) सह वर्तते इति सदैवं
यत् तेजः,—प्रतापः, तेन अर्जितः राजसु मानः येन तथाभूतः
तत्सम्बुद्धौ तथोक्त ! (अस्मिन्पक्षे एवकारस्य पुनरुक्तत्वदोषो न
स्यात्) परमारणस्य—शत्रुघातिनः, ते—तव, रणस्य—सङ्घा-
मस्य, परमा—महती, उत्कृष्टा इत्यर्थः, रामा—मनोहारिणी,
अतिरामा—अतिक्रान्तः,—अतिशयितः, रामः,—दाशरथिः,
परशुरामः वा यया तादृशी, विभा—दीप्तिः, सदा,—सर्वदा
एव, विभाति—राजते । अत्र प्रथमपादस्य द्वितीये, तृतीय-
पादस्य—चतुर्थे पदान्तरैरव्यवहिता आवृत्तिः स्वसमानवर्ण-
घटिता ॥ २६ ॥

उक्तोदाहरणेषु संयुतावृत्तिमूलयमकमुदाहृत्य इदानीम्
असंयुतावृत्तिमूलं प्रथममध्यपादयमकमुदाहरति, सारमिति ।
—गिरिः,—पर्वतस्य, अग्रतः,—अग्रवर्त्तिनि, शिखरे—शृङ्गे,
सारम्—उत्कृष्टं, रस्यमित्यर्थः, गवयसान्निध्यराजि—गवयानां
—गासदृशमृगविशेषाणां, सान्निध्येन—सन्निधानेन, राजते—
शामन्ते इति तथोक्तं, सारङ्गाणां—मृगभेदानां, वयसां—पक्षि-
णाञ्च, निधि—आश्रयभूतम्, अदारुणम्—अभयङ्करं, शान्तिप्रद-
मिति यावत्, काननं—वनं, वर्तते इति शेषः । अत्र “सारं
गवयसान्निध्य” इत्यस्य प्रथमपादस्य “राजि काननमग्रतः” इत्य-
नेन द्वितीयपादेन विच्छेदिता आवृत्तिः इति असंयुतावृत्ति-
मूलम् आदिद्वितीयपादगतं यमकम् ॥ २७ ॥

आसन्नदेवा न रराज राजि-

ऋचैस्तटानामियमत्र नाट्री ।

क्रीडाकृतो यत्र दिगन्तनागा

आसन् नदे वानरराजराजिः ॥ २८ ॥

अमरनगरस्योराक्षीणां प्रपञ्चयति स्फुरत्-

सुरतरुचये कुर्वाणानां बलक्षम ! रंहसम् ।

इह सह सुरैरायान्तीनां नरेश ! नगीऽन्वहं

सुरतरुचये कुर्वाणानां बलक्षमरं हसम् ॥ २९ ॥

आद्यन्यपादगतमसंयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति, आस-
न्नेति ।—अत्र—अस्मिन्, अट्री—पर्वते, आसन्नदेवा—आसन्नाः,
—सन्निहिताः, देवाः,—इन्द्रादयः, यस्याः तथोक्ता, वानरराज-
राजिः,—वानराणां राजान इति वानरराजाः, तेषां राजिः,—
समूहः, यत्र तथाभूता, इयं—पुरतो दृश्यमाना, उच्चैस्तटानाम्
—उन्नततीरभागाणां, राजिः,—श्रेणी, न रराज—न शुशुभे, इति
न, अपि तु रराज एव इत्यर्थः । यत्र—यस्यां उन्नततटराजो, नदे
—तटसमीपवर्तिनि जलराशिविशेषे, दिगन्तनागाः,—दिग्गजाः
—क्रीडाकृतः,—क्रीडाकारिणः, जलकेलिनिरताः इत्यर्थः,
आसन् । अत्र आद्यन्तपादाऽऽवृत्तिः, असौ च द्वितीयतृतीय-
पादाभ्यां व्यवहितेत्यसंयुता, अतः यमकमपि तथाभूतम् । इन्द्र-
वज्रा वृत्तम् ॥ २८ ॥

द्वितीयचतुर्थपादगतमसंयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति,
अमरेति ।—हे बलक्षम ! पराक्रमसमर्थ ! यद्वा—बलः,—बल-
भद्रः, तस्येव क्षमः,—तितिक्षा यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त ! नरेश
—राजन् ! स्फुरन्तः,—राजन्तः, सुरतरुणां—कल्पवृक्षाणां,
चयाः,—समूहाः, यत्र तादृशे विराजमानदेवपादपसमूहे
इत्यर्थः, इह—अस्मिन्, नगी—पर्वते, वाणानां—तदाख्यतरुणां,

रम्भाऽऽरामा कुरवक ! कमला-

ऽऽरम्भा रामा कुरवककमला ।

रम्भारामाऽकुरवककमला-

ऽरम्भाऽऽरामाऽकुरवककमला ॥ ३० ॥

कुः,—भूमिः, अन्वहं—प्रतिदिनं, सुरतरुचये—सुरताभि-
लाषाय, सुरैः,—देवैः, सह आयान्तीनाम्—आगच्छन्तीनाम्,
अरम्—अत्यर्थं, बलत्तं—धवलं, (“सितं श्वेतं बलत्तं चामलं
धवलमर्जुनम्” इति विश्वः ; हास्यस्य धवलता कविसमयसिद्धा,
अत एवोक्तं दर्पणकृता,—“धवलता वर्ण्यते” हामकीर्त्योः”
इति) हंसं—हास्यं, कुर्वाणानां—विदधतीनाम्, अमरनगर-
स्मेरांक्षीणां—सुराङ्गनानाम् इत्यर्थः, रंहसम्—आवेगं, प्रपञ्च-
यति—प्रकटयति, व्यनक्ति इत्यर्थः । अत्र द्वितीयपादस्य भिन्ना-
क्षरवता तृतीयपादेन व्यवहिता चतुर्थपादे आवृत्तिः इति ।
हरिणा वृत्तम् ॥ २८ ॥

चतुर्णामपि पादानां समानत्वे महायमकं स्यादिति तदप्यु-
दाहरणेनैव स्पष्टयति, रम्भेति ।—अवति रक्षति इति अवकः,
तत्सम्बुद्धौ, हे अवक !—रक्षक ! इत्यर्थः, रम्भाणां—कद-
लीनां, (“रम्भा कदल्यप्सरसोः” इति मेदिनी) आरामः,—
वनं, यस्यां सा रम्भाऽऽरामा, तथा कमलानां—पद्मानाम्,
आरम्भः,—उत्पत्तिः, यत्र सा कमलाऽऽरम्भा, रामा—मनो-
हारिणी, अथवा—कमलानाम् आरम्भेण उत्पत्त्या आ सम-
न्तात् रामा रमणीयत्वर्थः, कुरवकैः,—तदाश्रयैश्चैः, कमला—
लक्ष्मीः, शोभा इत्यर्थः, यस्याः तद्योक्ता, रम्भा—तन्नाम्नी सुरा-
ङ्गना, इव रामाः,—रमण्यः, सम्भोगार्थम् आगच्छन्त्य इति
भावः, यस्यां तद्योक्ता, न कुरिति अकुः,—अकुक्षिता इत्यर्थः,

हारीतहारी ततमेष धत्ते
शेवालसेवालसहंसमम्भः ।

अवकं—वकपक्षिरहितं, कं—जलं, (“सुखशीर्षजलेषु कम्” इति मेदिनी) मलति—धारयति या तथोक्ता ; यद्वा,—अवकं कमलं—जलं, (“कमलं जलपद्मयोः” इति विश्वः) यत्र इति तथोक्ता अरम्—अत्यर्थं, भाभिः,—कान्तिभिः, आ—सम्यक्, रामा—मनोहारिणी, यद्वा,—भैः,—नक्षत्रैः, रजन्यां उदितैः इत्यर्थः, आरामा—समुज्ज्वला, कुक्लिता रवाः,—शब्दाः, इति कुरवाः, न सन्ति कुरवाः येषां इति अकुरवाः, ते एवेति अकुरवकाः [स्वार्थे कन्] मधुररवशालिनः इत्यर्थः, कमलाः,—हरिणाः, (“मृगभेदे तु कमलः कमला श्रीवरस्त्रियोः” इति मेदिनी) यस्यां तथाभूता कुः,—भूमिः, (“गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी” इत्यमरः) अस्ति इति शेषः । अत्र प्रथमपादस्यैव पुनःपुनरावृत्तिरिति महायमकम् । यदुक्तम् अत्र “अर्द्धावृत्तिः” इति, तन्न, प्रथमद्वितीयपादयोर्भिन्नयोरेवावृत्तौ तथा वक्तुं युक्तत्वात् । भ्रमरविलसिता छन्दः,—“मो गो नौ गो भ्रमरविलसिता” इति लक्षणात् ॥ ३० ॥

संयुतावृत्तिमूलमादिपदयमकमुदाहरति, हारीतेति ।—हारीतैः,—तदाख्यपक्षिभिः, (“हारीतः पक्षिभेदे स्यान्मुनिभेदे च कैतवे” इति मेदिनी) हरति—रञ्जयति इति हारीतहारी, मन्दारैः,—तदाख्यसुरभिहृत्तैः, मन्दः,—मधुरः, शनैःशनैर्वहन् इत्यर्थः, आरवः,—शब्दः, ध्वनिरिति यावत्, यस्य तथाभूतः वायुः यत्र तथोक्तः, एषः,—पुरो दृश्यमानः, अद्रिः,—पर्वतः, ततं—विस्तृतं, शेवालानां—जलनीलानां, (अत्र तालव्यदन्ययोर्भेदेऽपि सादृश्याङ्गीकारः “शसयोर्ववयोस्तथा” इति कविसमयानुगततया न दुष्टः) सेवायां—भोगे, अलसाः,—मन्यराः, मन्दसञ्चारिणः

जम्बालजं बालमलं दधानं

मन्दारमन्दारववायुरद्रिः ॥ ३१ ॥

संयुतावृत्तिमूलं मध्यपदयमकमुदाहरति,—

नेमिर्विशालनयनी नयनोदितश्री-

रभ्रान्तदुधिविभवो विभवोऽथ भूयः ।

प्राप्तस्तदेति नगरान्नगराजि तत्र

सूतेन चार्क जगदे जगदेकनाथः ॥ ३२ ॥

इत्यर्थः, हंसाः यत्र तादृशं, बालं—नवं, जम्बालात्—पङ्कात्, जायते इति जम्बालजं, पङ्कजम् इत्यर्थः, (“जम्बालः शैवले पङ्के” इति मेदिनी) अलम्—अत्यर्थं, दधानं धारयत्, अभ्रः,—जलं, धत्ते—धारयति । अत्र हारीत-शेवाल-जम्बाल-मन्दारपदानां प्रतिपादारभ्रमावृत्तेः पदान्तरेणाव्यवहिततया संयुतावृत्तिमूल-मादिपदगतं यमकम् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३१ ॥

संयुतावृत्तिमूलं मध्यपदयमकमुदाहरति,—नेमिरिति । विशालनयनः,—दीर्घनेत्रः, पुण्डरीकदलायतनेत्र इति यावत्, नयेन—नीतिमार्गेण, नोदिता—चालिता, सम्पादितेति यावत्, श्रीः,—लक्ष्मीः, येन तथाभूतः, अभ्रान्तः,—भ्रमरहितः, बुद्धेः-विभवः,—सामर्थ्यं, यस्य तथोक्तः, यथार्थज्ञातेति भावः, विगतः,—निवृत्तः, भवः,—संसारः, यस्य, स विभवः, संसारवासना-शून्यतया जीवन्मुक्त इत्यर्थः, जगदेकनाथः,—जगताम्—लोका-नाम्, एकः,—अद्वितीयः, नाथः—प्रभुः, नेमिः,—तदाख्यः, महापुरुषः, नगरात्—पुरात्, स्वस्थानादिर्धर्थः, तत्र—तस्मिन्, नगराजि—पर्वतराजे, रैवतके इति यावत्, तदा प्राप्तः इति सूतेन—सारथिना चार्क—मनोहरं यथा भवति तथा भूयः,—पुनःपुनः, जगदे—कथितम् । अत्र “नयन-विभव-नगर-

यदुपान्तिकेषु सरलाः सरला
 यदनूच्चलन्ति हरिणा हरिणाः ।
 तदिदं विभाति कमलं कमलं
 मुदमेत्य यत्र परमाप रमा ॥ ३३ ॥
 कान्तारभूमौ पिककामिनीनां
 कां तारवाचं क्षमते स्म सोढुम् ।

जगदे” इत्येतेषां पादमध्यगतानां पदानाम् अव्यवहिताऽऽवृत्ति-
 रिति मध्यपदगतं यमकम् । वसन्तनिलकं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

संयुतावृत्तिमूलं पादान्यपदयमकमुदाहरति,—यदिति ।—
 यस्य उपान्तिकेषु—प्रान्तभागेषु, सरलाः,—अवक्राः, सरलाः,
 —देवदारवाः, (“सरलः पूतिकाष्ठे नाऽयोदारावः प्रयोक्तव्यः” इति
 मेदिनी), वर्तन्ते इति शेषः; यत्—जलम्, अनु—लक्ष्मीकृत्य
 इत्यर्थः, हरिणाः,—शृगाः, हरिणा—वायुना, सह इत्यर्थः,
 (“हरिश्चन्द्राजवाताश्शशक्रभेकयमाहिषु” इति मेदिनी)
 उच्चलन्ति—उद्भास्यन्ति; यत्र—जले, रमा—लक्ष्मीः, कमलं
 —पद्मम्, एत्य—प्राप्य, परम्—अत्यन्तं, मुदम्—आनन्दम्, आप
 —लेभे, तत् इदं—पुरा दृश्यमानं, कमलं—जलं, विभाति
 —राजते । अत्र सरल-हरिण-कमल-परमापदानां पदान्त-
 रेणाव्यवहितावृत्तेः संयुतावृत्तिमूलं पादान्यपदयमकम् ।
 प्रमिताक्षरा वृत्तं,—“प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता” इति
 तल्लक्षणात् ॥ ३३ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं पादचतुष्टयादिगतपदयमकमुदाहरति,
 कान्तारिति ।—कान्तारं—कामिनौ, रतेशे—रमणे, कान्ते इत्यर्थः,
 अध्वनि—पथि, वर्तमाने—प्रोषिते इति यावत्, कान्तानि—
 प्रफुल्लतया मनोहराणि, अरविन्दानि—पद्मानि, यत्र तथा-
 भूतस्य, सधोः,—वसन्तस्य, प्रवेशे—आगमे सति इत्यर्थः,

कान्ता रतेशेऽध्वनि वर्त्तमाने

कान्तारविन्दस्य मधोः प्रवेशे ॥ ३४ ॥

चकार साहसं युद्धे धृतोल्लासा हसं च या ।

दैन्यं त्वां साहसं प्राप्ता द्विषां सोल्लाह ! सन्ततिः ॥ ३५ ॥

कान्तारभूमौ—काननदेशे, पिककामिनीनां—कोकिलानां, कां,
तारवाचम्—उच्चैर्मनोज्ञवाणीं, सोढुं क्षमते स्म—शक्नोति स्म ?
नं काम् अपि इत्यर्थः । अत्र पादानाम् आदिषु वर्त्तमानस्य
कान्तारेति पदस्यावृत्तिः, किन्तु असौ “भूमौ” इत्यादि पदान्तरैः
व्यवहिता, इति असंयुतावृत्तिमूलं पादादिगतपदयमकम् ।
इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३४ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं पादमध्यगतपदयमकमुदाहरति, चका-
रेति ।—हे सोल्लाह !—उल्लाहशालिन् ! राजन् इति
शेषः, या द्विषां—शत्रूणां, सन्ततिः,—समूहः, तव इति शेषः,
युद्धे—रणभूमौ, साहसं—शस्त्रादिपातेन बलप्रकाशं, चकार
—विदधौ, तथा धृतोल्लासा—अन्यत्र जयलाभेन उल्लासवती
सती, हसं—हास्यञ्च चकार, अन्यत्र अन्यान् प्राप्येति भावः ; सा
इदानीम् इति अध्याहार्यं, त्वां—भवन्तं, प्राप्ता—अधिगता सती,
साहसं—सहसोपस्थितं, दैन्यं—दीनभावं, कातर्यम् इत्यर्थः,
चकार—प्रकटयामासेत्यर्थः, तव विक्रमदर्शनात् इति भावः ।
यद्वा,—सा—शत्रुश्रेणी, त्वां सम्प्राप्ता सती दैन्यं चकार—प्रक-
टयामासेत्यर्थः, “ह” इति पादपूरणे । अथवा,—“साह” इति
“सा” “आह” इति पदच्छेदः, तथा च—सा त्वां सम्प्राप्ता दैन्यं
चकार, आह च—दैन्यप्रकाशानन्तरं च मां प्रार्थयामास
चेत्यर्थः । अत्र पादमध्यगतस्य “साहसम्” इत्यस्य पदस्य
“युद्धे” इत्यादिभिः व्यवहिततयाऽसंयुतावृत्तिमूलं पादमध्य-
पदयमकम् ॥ ३५ ॥

गिरां श्रूयते कीकिला कीविदाऽरं

यतस्तद्वनं विस्फुरत्कोविदारम् ।

मुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं

न च व्याधचक्रं कृतौको विदारम् ॥ ३६ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं पादान्यपदयमकमुदाहरति, गिरा-
मिति ।—कस्याचित् तपोवनस्य वर्णनमिदम् । अत्र—अस्मिन्
वने, गिरां—वाचां विषये, वाक्यगत-कोमलत्वमाधुर्ययोरित्यर्थः,
अरम्—अत्यन्तं, जन्मतः प्रभृत्येवेति यावत्, कीविदा—
पण्डिता, निपुणा इत्यर्थः, जन्मतः प्रभृति शिक्षाग्रहणमन्तरेणव
मधुरोच्चारणे चतुरेति तात्पर्यम् ; कीकिला ‘वसति इति’
इत्यध्याहार्यम् ; श्रूयते—आकर्ण्यते, जनैः लोकमुखादिति
शेषः, यतः,—यस्मात्, तत्—कीकिलाध्वुषितं, वनम्—अरण्यं,
विस्फुरन्तः,—विकसन्तः, कीविदाराः,—काञ्चनारापरनाम्
वृक्षविशेषाः, यत्र तादृशं, कीकिला हि कीविदारप्रिया भव-
तीति तत्र तद्वासः युज्यते एव इति भावः ; तथा मुनीनां—
मौनव्रतावलम्बिनां तापसानां, लोकः,—भुवनं, लक्षणया
समुदाय इत्यर्थः, (“लोकस्तु भुवने जने” इत्यमरः) विदारम्
—अकलचं यदा स्यात् तथा, वसति [तस्य जितेन्द्रियतया
कीकिलारवः दाररहितस्य अपि न बाधक इति सूचितम्]
तथा वीन्—पक्षिणः, दारयति—नाशयति, इति विदारं—पक्षि-
विनाशकं, व्याधचक्रं—किरातसमूहः, कृतम् ओकः,—स्थानं,
स्थितिः इत्यर्थः, येन तथाभूतं, च न—नैव, भवतीति शेषः ;
मुनीनां प्रभावात् अत्र व्याधानां प्राणिहिंसकत्वमपि नास्तीति
पक्षिणोऽत्र सुखं निवसन्ति इति भावः । अत्र पादान्यस्य
“कीविदारम्” इतिपदचतुष्टयस्य “यतस्तद्वनम्” इत्यादिभिः
व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असंयुतावृत्तिमूलं पादान्यपदयमकम् ।

सिन्धुरोचितलताग्रश्लकी
 सिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः ।
 कन्दराजितमदस्तटं गिरेः
 कन्दराजितगृहस्थि गीयते ॥ ३७ ॥

भुजङ्गप्रयातं नाम छन्दः,—“भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः” इति
 तल्लक्षणात् ॥ ३६ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागगतं पादाद्यपदयमकमुदाह-
 रति, सिन्धुरोचितेति ।—किन्नरैः,—किम्पुरुषैः, सिन्धुराणां—
 हस्तिनाम्, (“मातङ्गः सिन्धुरो हस्ता द्विपो दन्तावलः करी”
 इति नाममाला) उचिताः,—योग्याः, भक्षणयोग्या इत्यर्थः,
 लताः अग्रे यासां तथाविधाः, यद्वा,—लतासु अत्राः,—श्रेष्ठाः,
 श्लक्ष्ण्यः,—गजभक्ष्यतरुविशेषाः, यासु तथाक्ताः, याः सिन्धवः,
 —सरितः, (“देशे नदविशेषेऽथौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्”
 इत्यमरः) श्लक्ष्णीलतीपगूढतीरा नद्यः इत्यर्थः, ताभिः रोचितं
 —शोभितं, कन्दैः,—मूलविशेषैः, राजितं—शोभितं, परि-
 पूरितम् इति यावत्, तथा कन्दराभिः,—गुहाभिः, जिता—
 न्यकृता, गृहाणां—प्रासादानां, श्रीः,—शोभा, येन तथा-
 भूतम् [“ऋसो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” (१।२।४७ पा०)
 इति नपुंसके ईकारस्य ऋस्त्वम्] अदः,—इदं, पुरो दृश्य-
 मानम् इत्यर्थः, गिरेः,—पर्वतस्य, तटम् उपेत्य—आगत्य,
 गीयते । अत्र “सिन्धुरोचित” इत्यस्य पूर्वाङ्गगतपादद्वयाद्य-
 पदद्वयस्य ‘लता’ इत्यादिपदान्तरैः व्यवहितावृत्तिः, “कन्दरा-
 जित” इत्यस्य च उत्तराङ्गगतपादद्वयाद्यपदद्वयस्य “मद” इत्यादि
 पदान्तरैः व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असंयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागं
 भिन्नं पादाद्यपदयमकम् । अत्र रथोद्धता छन्दः,—“रात् परै-
 नरलगै रथोद्धता” इति तल्लक्षणात् ॥ ३७ ॥

वसन् सरोगोऽत्र जनो न कश्चित्

परं सरोगो यदि राजहंसः ।

गीतं कलं को न करोति सिद्धः

शैले कलङ्कोऽज्झितकाननंऽस्मिन् ॥ ३८ ॥

जङ्घुर्वसन्ते सरसीं न वारणाः

बभुः पिकानां मधुरा नवा रणाः ।

असंयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागं पादद्वयमध्यगतपदयमक-
मुदाहरति, वसन्निति ।—कलङ्केन—दोषेण, उज्झितं—वर्जितं,
काननं—वनं, यस्मिन् तथाभूतं, अत्र शैले—अस्मिन् पर्वते,
वसन्—वासं कुर्वन्, कश्चित्—कोऽपि, जनः,—लोकः, सरोगः,
—रोगयुक्तः, न—नास्तीत्यर्थः, अत्यन्तपवित्रवायुनिर्मलसलिल-
शालितया अतीव स्वास्थ्यकरोऽयम् इति भावः, परं—किन्तु,
यदि—चेत्, सरोगः, अत्र कश्चित् स्यात्, तर्हि इति शेषः, राज-
हंसः,—हंसविशेषः एवेत्यर्थः, सरोगः,—सरः,—सरोवरं,
गच्छति इति सरोगः,—मानसाख्यसरोवरगामौत्यर्थः, [“अन्य-
त्रापि दृश्यते इति वक्तव्यम्” (वा०) इति सर उपपदस्य
गमेर्ङः] तथा अस्मिन्—अत्र शैले, कः सिद्धः,—देवयोनिविशेषः,
कलं—मधुरं, गीतं—गानं, न करोति ? अपि तु सर्वोऽपि
सिद्धः मधुरगानं करोति इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्द्धगतस्य “सरोगः”
इति पादमध्यभागस्थस्य पदस्य “अत्र जनः” इत्यादिभिः, उत्त-
रार्द्धगतस्य “कलङ्कः” इत्यस्य च “न करोति” इत्यादिभिः पदा-
न्तरैः व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असंयुतावृत्तिमूलं पादमध्यगत-
पदयमकम् । उपेन्द्रवज्रन्द्रवज्रयोः उपजातिः वृत्तम् ॥ ३८ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागं पादान्त्यपदयमकमुदाहरति,
—जङ्घुरिति ।—वारणाः,—हस्तिनः, (“वारणस्तु मतङ्गजे”

रसं न का मोहनकोविदाऽऽर कं
 विलोकयन्ती वकुलान् विदारकम् ॥ ३६ ॥
 वरणाः प्रसूननिकरावरणा
 मलिनां वहन्ति पटलीमलिनाम् ।

इति मेदिनी) वसन्ते—सुरभिसमये, सरसीं—सरोवरं, न
 जहुः,—न तत्पुत्रः, पिकानां—कोकिलानां, मधुराः,—मनो-
 हराः, नवाः,—नूतनाः, रणाः,—कलरवाः, बभुः,—शुशुभिरे,
 तथा मोहने—चित्तहरणे, कोविदा—निपुणा, का—नारी,
 प्रोषितभर्तृका इति भावः, वकुलान्—उपचारात् तदाख्य-
 पुष्पिततरुविशेषान्, विलोकयन्ती—पश्यन्ती सती, विदा-
 रकं—चित्तव्यथादायकं, कं रसं, विप्रलम्भशृङ्गारादिरूप-
 मित्यर्थः, न आर ?—न प्राप ? [ऋगतौ इत्यस्य लिटि रूप-
 मिदम्], अपि तु विरहित्वात् वकुलपुष्पविकासदर्शनेन सर्व-
 विधामिव विप्रलम्भशृङ्गाररसानुगुणां सन्तापादिदशामनुबभूव
 इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्द्धे “न वारणाः” इत्यस्यान्यस्य “बभुः”
 इत्यादिना, उत्तरार्द्धे च “विदारकम्” इत्यस्य “विलोकयन्ती”
 इत्यादिना व्यवहिताऽऽवृत्तिकत्वात् पादान्धपदयमकम् ।
 वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं प्रतिपादमाद्यन्तपदयोर्यमकमुदाहरति,
 वरणां इति ।—अत्र—अस्मिन् पर्वते, प्रसूनानां—पुष्पाणां,
 (“प्रसूनं पुष्पफलयोः” इत्यमरः) निकरः,—समूहः, (निकरो
 निवहे सारं न्यायदेयधने निधौ” इति मेदिनी) एव आव-
 रणम्—आच्छादनं, येषां तथाभूताः, अत्यन्तं पुष्पिता इति
 भावः, वरणाः,—तिक्तशाकनामानः, (“वरुणो वरणः सेतु-
 स्तिक्तशाकः कुमारकः” इत्यमरः) तरवः,—वृक्षाः, मलिनां—

तरवः सदाऽत्र शिखिजातरवः

सरसश्च भाति निकटे सरसः ॥ ४० ॥

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभवः स्यान्महत्तमः ।

तथा तथाऽस्य जायेत स्पर्द्धयेव महत्तमः ॥ ४१ ॥

श्यामां, कृष्णवर्णीमित्यर्थः, अलिनां—भ्रमराणां, (“मधु-
लिङ्मधुपालिनः” इत्यमरः) पटलीं—मसूहं, [अत्र “षिङ्गै-
रादिभ्यश्च” (४।१।४१ पा०) इत्यनेन गौरादेराकृतिगणत्वात्
पटलशब्दात् ङीष्] सदा—निरन्तरं, वहन्ति—धारयन्ति,
पुष्पाणां मकरन्दलुब्धा भ्रमराः सदाऽत्र निवसन्तीति भावः,
च—तथा, सरसः,—मरोवरस्य, निकटे—समीपे, तटे इति
यावत्, शिखिजातस्य—मयूरसमूहस्य, यद्वा,—शिखिजातानां
—मयूरशिशूनां, तरुणानां मयूराणामिति भावः, रवः,—
शब्दः, केकावाणीत्यर्थः, सरसः,—रमणीयः, मधुर सन्नित्यर्थः,
भाति—शीभते, श्रोतॄणां चित्तमामोदयतीत्यर्थः । अत्र पादादि-
स्थानां “वरणाः” “मलिनां” “तरवः” “सरसः” इत्येतेषां
पदानां “प्रसून” इत्यादिना व्यवहृता तेषामेव पादान्तेष्वपि
आवृत्तिरित्यभ्युतावृत्तिमूलं प्रतिपादमाद्यन्तयोः पदयमकम् ;
तथा वरणानामलिपटलवहनं प्रतिप्रसूननिकरा वरणत्वरूप-
विशेषणपदार्थस्य हेतुविधया उपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कार-
श्चेति ध्येयम् । प्रमिताक्षरा वृत्तं,—“प्रमिताक्षरा सजससैः
कथिता” इति तद्वचनात् ॥ ४० ॥

अभ्युतावृत्तिमूलं श्लोकार्धान्यपदयमकमुदाहरति, यथेति ।
—द्वे जिह्वे—रमने, लक्षण्या—मधुसूत्रे स्तुतिपरा, परोक्षे
निन्दनपरा चेत्येवं द्विविधा वाणीत्यर्थः, यस्य तथोक्तस्य, द्विजि-
ह्वस्य—सूचकस्य, खलस्य इति यावत्, (“द्विजिह्वः सर्पसूचकौ”

दास्यति दास्यति कोपा-

दास्यति सति कर्करान् शापम् ।

भवति भवति ह्यनर्थो

भवतिमितस्तेन वटुक ! त्वम् ॥ ४२ ॥

इत्यमरः) खलो हि प्रत्यक्षम् एकं, परोक्षम् अन्यत् वदतीत्यत एव अस्य द्विजिह्वत्वम् इति भावः ; विभवः,—सम्पत्, यथा यथा—यत्र यत्रेत्यर्थः, महत्तमः,—अतिशयेन महान्, प्रभूत-तमः इत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, तथा तथा—तत्र तत्रैव, अस्य—द्विजिह्वस्य, तमः,— मोहः, पापमिति यावत्, (मालिन्यगुण-माधर्म्यात् मोहस्य तमस्त्वव्यपदेशः ; यदुक्तं दर्पणे,—“मालिन्यं व्योम्नि पापे” इति) स्रद्धया इव—विभववद्विजन्येर्ष्येव इत्यर्थः, महत्—गाढं, अधिकमिति यावत्, जायेत—भवेत् । अत्र प्रथ-मार्द्धान्त्यस्य “महत्तमः” इत्यस्य अंशस्य उत्तरार्द्धान्ते तृतीय-पादादिना व्यवहिता आवृत्तिरित्यसंयुतावृत्तिमूलम् अर्द्धान्त्य-पदयमकम् । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४१ ॥

संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं पादाद्यपदयमकमुदाहरति, दास्य-तीति ।—दासीं प्रति कर्करान् क्षिपन्तं कञ्चित् बालकं प्रति कस्यचित् उक्तिरियम् । हे वटुक !—बालक ! भवति—त्वयि, कर्करान्—कठिनान् पदार्थान्, लक्षणया प्रस्तरखण्डान् इत्यर्थः, (“कर्करी भाण्डभेदे ना दर्पणे कठिने त्रिषु” इति मेदिनी) आ—समन्तात्, अस्स्यति सति—क्षिपति सति, दासी—परिचारिका, अतिकोपात्—अतिक्रोधात्, सातिशयक्रीडाभाभभूता सतीत्यर्थः, शापम्—आक्रोशं, दास्यति—प्रकटयिष्यतीत्यर्थः ; ननु तेन का तव हानिः ? इत्याशङ्क्याह,—हि—यतः, शापादिति भावः, अनर्थः,—अनिष्टं, भवति ; तेन—हेतुना, त्वं तिमितः,—निश्चलः, स्थिर इति यावत्, भव, चापल्यं विजहोहीति

कुलं तिमिभयादत्र करेणूनां न दीव्यति ।

नदीव्यतिकरेऽणूनां प्राणिनां गणनापि का ? ॥ ४३ ॥

भावः । अत्र प्रथमपादादौ “दास्यति” इत्यस्य तृतीयपादादौ “भवति” इत्यस्य च पदस्य प्रथमे तृतीये च पादे पदान्तरेणाव्यवहिताऽऽवृत्तिः इति संयुतावृत्तिमूलं, तथा द्वितीयपादादौ चतुर्थपादादौ च प्रथमतृतीयपादादिस्थयोः “दास्यति” “भवति” इत्येतयोः एवावृत्तिः पदान्तरेण व्यवहिता इति असंयुतावृत्तिमूलञ्चेति एकत्रैव संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं पादादिपदयमकम् । उपगीतिश्छन्दः,—“आर्याद्वितीयकेऽर्द्धे यद्वादितं लक्षणं तत् स्यात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिव्रते ॥” इति तल्लक्षणात् ॥ ४२ ॥

द्वितीयपादस्थस्य तृतीयपादे आवृत्तौ संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति, कुलमिति ।—अत्र—अस्मिन्, नदीव्यतिकरे—नदीसङ्गमे, करेणूनां—हस्तिनां, (“करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे” इत्यमरः) कुल—वृन्दं, तिमिः,—“अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः” इत्युक्तलक्षणः सामुद्रः मत्स्यविशेषः, तस्मात् भयं तस्मात् कारणादित्यर्थः न दीव्यति—न स्वच्छन्दं क्रीडति, अणूनां—क्षुद्राणां, हस्यपेक्षया इति भावः, प्राणिनां गणना अपि का ?—न कापि इत्यर्थः, यत्र महतां करिणामपि त्रासात् क्रीडाविच्छित्तिस्तत्र अन्येषां क्षुद्राणां कथा गणनामध्ये एव नापतति इति भावः । अत्र “करेणूनाम्” इत्यस्य द्वितीयपादादिस्थपदस्य तृतीयपादान्ते आवृत्तिः नैत्यादिना पदान्तरेण व्यवहृतेति असंयुतावृत्तिमूलं, तथा “न दीव्यति” इति द्वितीयपादान्तस्थांशस्य तृतीयपादादौ आवृत्तिः पदान्तरेणाव्यवहिता इति संयुतावृत्तिमूलञ्चेति एकत्र संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं पदयमकम् ॥ ४३ ॥

गाङ्गास्वधवलाङ्गाभोःमुमुक्षुध्यानगोचरः ।

पापार्तिहरणायास्तु स सज्ज्ञानो जिनः सताम् ॥ ४४ ॥

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयद्ब्रह्मधामदोःपरिधः ।

जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥ ४५ ॥

संयुतावृत्तिमूलं वर्णयमकमुदाहरति, गाङ्गेति ।—गाङ्गायाः इदं गाङ्गं यत् अस्वु—जलं, तद्वत् धवला—श्वेता, शुद्धेति यावत्, अङ्गस्य—देहस्य, करचरणादेरित्यर्थः, आभा—कान्तिः, यस्य सः, मुमुक्षूणां—निर्वाणार्थिनां पुरुषाणां, ध्यानस्य—समाधेः, गोचरः,—विषयः, समाधिद्वारेव मुमुक्षुजनसाक्षात्करणीयः इत्यर्थः, सत्—समीचीनं, ज्ञानं यस्य तथाभूतः, तत्त्वविदित्यर्थः, [“सज्ज्ञानः” इत्यत्र “सज्ञानः” इति पाठे—ज्ञानेन—ब्रह्मज्ञानेन इत्यर्थः, सहितः, ब्रह्मज्ञानपरायण इति यावत्, साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपः इति भावः] सः,—प्रसिद्धः, जिनः,—बुद्धदेवः, (बुद्धपर्याये “मारजिल्लोकजिज्जिनः” इत्यमरः) संतां—साधूनां, पापार्तिहरणाय—पापक्लेशध्वंसनाय, अस्तु—भवतु । अत्र “गा, मु, पा, स” वर्णानां क्रमेण चतुर्णां पादानामादौ द्विरुक्तिः वर्णान्तराव्यवधानेन संयुतेति संयुतावृत्तिपादादिगतं वर्णयमकम् । वस्तुतस्तु वर्णयमकोदाहरणे इदं पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभासते, उदाहृते पद्येऽनुप्रासस्यैव स्फुटं प्रतिपत्तेः ; न च “गा-मु-पा-स-” वर्णानां पादाद्यानामावृत्तेः संयुतावृत्तिमूलं पादादिगतं वर्णयमकम् इति एकानेकवर्णावृत्तिमूलस्य अनुप्रासयमकयार्भेदस्य लोपापत्तेः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४४ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं वर्णयमकमुदाहरति, जगदिति ।—उद्दामम्—उत्कटं, धाम—तेजः, उपचारात् वीर्यमिति यावत्, यस्य तथाभूतः दोः,—भुजः, एव परिधः,—अर्गलं, यस्य

मामाकारयते रामा सा सा मुदितमानसा ।

या या मदारुणच्छाया नानाहेलामयानना ॥ ४६ ॥

तथोक्तः, अत्यन्तवीर्याद्भूतया यस्य बाहुः शत्रूणां प्रतिरोधे परि-
घायते, तादृश इति यावत् ; प्रतापेन—तेजसा, पूषा—सूर्यः,
तेजसा सूर्यमदृश इत्यर्थः, जयमिंहः,—जयमिंहिति नाम्ना
ख्यातः, क्षामृतां—राज्ञाम्, अधिनाथः,—अधीश्वरः, जगत्—
त्रिभुवनम्, आत्मनः,—स्वस्य कीर्त्तिभिः,—यशोभिः, शुभ्रं—
धवलं, जनयन्—विदधत्, कुर्वन् इत्यर्थः, जयति—सर्वोत्कर्षेण
वर्त्तते । अत्र तृतीयपादादिस्थयोः “जय” इत्येतयोः वर्णयोः
चतुर्थपादादौ आहृतिः, सा च तृतीयपादान्तस्थेन “प्रताप”
इत्यादिना व्यवहृता इति असंयुतावृत्तिमूलं पादादिवर्ण-
यमकम् । न च चतुर्णामिव पादानामादौ “ज” इत्यस्या-
वृत्तेः पादादिवर्णयमकम् इति शङ्क्यम्, एकवर्णस्यावृत्तावनुप्रास-
स्यैव स्त्रीकारात् । आर्या कृन्दः ॥ ४५ ॥

पादाद्यस्य वर्णस्य पादान्ते आहृत्तिमूलं यमकमुदाहरति,
—मामेति ।—या या—रामा, मदेन—मद्यपानेन, अरुणा—
रक्ता, छाया—कान्तिः, यस्याः तथाभूता, तथा नानाहेला-
मयं—विविधविलासपूर्णम्, आननं—मुखं यस्याः तादृशी, सा
सा—तादृशी तादृशोत्थः, रामा—कान्ता, मुदितमानसा—
हृष्टचित्ता सती, माम् आकारयते—आह्वयति । अत्र पादा-
नामारम्भे वर्त्तमानानां “मा” “सा” “या” “ना” इत्येषां
वर्णानां पादानाम् अन्ते आहृतिः इति वर्णावृत्तिमूलं यम-
कम् । प्रथमपादादौ तु पादादिवर्णयमकमर्पति बोध्यम् ।
एतच्चासंयुतावृत्तिमूलम् ; संयुतावृत्तिमूलन्तु यथा भट्टिकाशे
दशमे सर्गे,—“चित्रं चित्रमिवायातो विचित्रं तस्य भूभृतम् ।
हरयो वेगमासाद्य सन्तस्ता मुमुहुर्मुहुः ॥” इति । अत्र हि

स्वभावोक्तिमाह,—

स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।

जातिविशेषतो रम्या हीनवस्ताऽर्भकादिषु ॥ ४७ ॥

उदाहरति,—

बर्हावली बहलकाञ्चिरुचो विचित्र-

भूर्जत्वचा रचितचारुदुकूललीलाः ।

चतुर्थपादान्ते “मुहुः” इत्येतयोः वर्णयोः संयुताऽऽवृत्तिः । यथा वा तत्रैव,—“रघुतनयमगात् तपोवनस्थं विधृतजटाऽजिन-
बल्कलं हनूमान् । परमिव पुरुषं नरेण युक्तं समशमवेश-
समाधिनाऽनुजेन ॥” इत्यत्र “सम” इत्येतयोः वर्णयोः वर्णान्तर-
ेण अव्यर्वाहिताऽऽवृत्तिः, इति दिक् ॥ ४६ ॥

तदेवं शब्दालङ्कारान् उक्त्वा अर्थालङ्कारान् वक्तुमुपक्रान्तः
प्रथमं जातिमाह, स्वभावोक्तिरिति ।—सक्रियस्य—क्रियाः,—
गत्यादयः, तत्सहितस्य, चेतनस्य इत्यर्थः, वा—यद्वा, अक्रियस्य
—गमनादिक्रियारहितस्य, अचेतनस्य इत्यर्थः, पदार्थस्य—
वस्तुनः, स्वभावोक्तिः,—स्वरूपवर्णनं, जातिः,—जातिनामा-
लङ्कारः । सा च—जातिरित्यर्थः, हीने—निकृष्टे, भिक्षादौ इति
भावः, तस्ते—भीते प्राणिनि, तथा अर्भकादिषु—बालकादिषु,
[आदिपदेन कुपितादीनां ग्रहणम्] विशेषतः रम्या—मनो-
हारिणी, भवतीति शेषः । यद्यपि वस्त्वन्तरस्वभाववर्णनमपि
जातिरेव, तथाऽपि भीत-बालक-अधमजात्यादीनां स्वभाववर्णन-
मतीव हृद्यम् इति जातेरुत्कर्षतापादनम् । एषा च स्वभावोक्ति-
शब्देन प्रायशो व्यवह्रियते ॥ ४७ ॥

जातिमुदाहरति, बर्हेति ।—अत्र—अस्मिन्, वने—अरण्ये,
बर्हाणां—मयूरपिच्छानाम्, आवली—श्रेणी, एव बहला—

गुञ्जाफलग्रथितहारलताः सहैलं

खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शबर्यः ॥ ४८ ॥

आरत्तणेत्तधोरणिभीसणवअणुक्करो कुरङ्गच्छि ।

उल्लमिअवीसभुअवणविणिवेसो दममुहो एषो ॥ ४९ ॥

विशाला, काञ्चिः,—मेखला, तथा रोचन्ते—शोभन्ते इति
तथोक्ताः, [“काञ्चि” इत्यत्र “कान्ति” इति पाठे—वर्हावलीभिः
बहला—विपुला, या कान्तिः तथा रोचन्ते इति तथोक्ताः]
विचित्रया—विविधवर्णया, भूर्जत्वचा—भूर्जवल्कलेन, रचिता
—निर्मिता, चारुदुकूलस्य—शोभनपट्टवसनस्य, लीला—
विलासः, अनुकरणमिति यावत्, याभिः तथाविधाः, परिहित-
भूर्जत्वचः इत्यर्थः, तथा गुञ्जाफलैः,—कण्णालाफलैः, (“काक-
चिञ्ची गुञ्जे तु कण्णला” इत्यमरः) ग्रथिता—गुम्फिता, हारः
एव लता याभिः तथोक्ताः, शबर्यः,—भिल्लनार्यः, खेलगतयः,—
सविलासगमनाः सत्यः, सहैलं—सविलासं यथा तथा, खेलन्ति
—क्रीडन्ति । अत्र नीचजातानां शबरीणां स्वावस्थानुरूपवर्हा-
वली-भूर्जत्वग्-गुञ्जाफलादिकल्पित-काञ्चरादिधारणरूपस्वाभाव्य-
वर्णनान् हीनजातिगतचेति नोक्तिरूपा जातिरलङ्कारः । वसन्त-
तिलकं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

तामिव प्राकृते काव्येऽप्युदाहरति, आरत्तेति ।—[“आरत्त-
नयनश्रेणीभीषणवदनोत्करः कुरङ्गाक्षि ! । उल्लसितविंशतिभुज-
वनविनिवेशो दशमुख एषः ॥” इति संस्कृतम्] सीतां प्रति
कस्याश्चि राक्षस्याः उक्तिरियम् । हे कुरङ्गाक्षि !—मृगनयने !
[कुरङ्गस्य अक्षिणोव अक्षिणो यस्याः सा तथोक्ता, तत्सखुद्धौ]
आ—समन्तात्, रक्तानां—लोहितानां, नयनानां—लोचनानां,
श्रेणीभिः,—पङ्क्तिभिः, भीषणः,—भयङ्करः, वदनोत्करः,—
मुखसमूहः, दशमुखानोत्यर्थः, यस्य तथाभूतः, उल्लसितः,—

उपमानाह,—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।

प्रत्ययाऽव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥५०॥

उदाहरति,—

गत्या विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायते

यस्याः पूर्णशशाङ्कमण्डलमिव श्रीमत् सदैवाननम् ।

उक्तासशाली, प्रस्फुरित इत्यर्थः, विंशतिभुजवनस्य—विंशति-
सङ्ख्यककरारण्यस्य, विनिवेशः,—समावेशः, यत्र तादृशः,
विंशतिसङ्ख्यका भुजा यस्योक्तसन्ति तथाभूत इति यावत् ;
एषः दंशमुखः,—रावणः, वर्तते इति शेषः । अत्र निसर्गादेव
भीषणाकृतः रावणस्य सहजभोतिवर्द्धकारक्तनयन-अनेकमुख-
विंशतिभुजवनत्वादिरूप-स्वरूपवर्णनात् स्वभावोक्तिः ॥ ४९ ॥

उपमां लक्षयति, उपमानेनेति ।—यत्र प्रत्ययैः,—वतिप्रभृ-
तिभिः, अव्ययैः,—इवादिभिः, तुल्यार्थैः,—समतुल्यादिभिः पदैः,
तथा समासैः,—कर्मधारयबहुव्रीह्यादिभिः, उपमेयस्य—प्रकृ-
तस्य इत्यर्थः, उपमानेन—अप्रकृतेन, उपमासाधनेन पद्मादिना
सहेत्यर्थः, सादृश्यं—साम्यं, सा—उक्तलक्षणा, उपमा—उप-
माख्योऽलङ्कारः इत्यर्थः, मता—कथिता इत्यर्थः ॥ ५० ॥

सम्प्रति तामेवोपमामुदाहरति, गत्येति ।—या—राजीमती-
त्यर्थः, विभ्रमेण—विलासेन, मन्दया—मन्द्यरया, गत्या—गम-
नेन, प्रतिपदं—प्रतिपादक्षेपं, राजहंसायते—राजहंसी इव
आचरति, [अत्र “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” (३।१।११ पा०)
इति आचारे क्यङ्प्रत्ययः] यस्याः आननं—मुखं, पूर्ण-
शशाङ्कमण्डलमिव—सकलकलानाथविश्ववत्, [अत्र पूर्ण-
शशाङ्कमण्डलमित्यस्य इवशब्देन “इवेन समासे विभक्त्य-
लोपश्च” इति वार्तिकवचनात् नित्यसमासः] सदा—नित्यम्

यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया
तां कुन्दाग्रदतीं त्यजन् जिनपती राजीमतीं पातु वः ॥ ५१ ॥

अपरमुदाहरणम्,—

चन्द्रवददनं तस्याः नेत्रे नीलोत्पले इव ।

पक्कविम्बं हसत्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्भुवः ॥ ५२ ॥

एव, ओमत्—समुज्ज्वलम् इत्यर्थः, [अत्र इवेत्यव्ययम्] यस्याः
नेत्रयुगलञ्च—नयनद्वयमपि, श्रिया—कान्त्या, नीलोत्पलानि—
इन्दीवराणि, अनुकरोति—अनुवदति, [अत्र तुल्यार्था क्रिया]
तां, कुन्दानि—कुन्दकुसुमानि इव, अग्राः,—मनोज्ञाः, यद्वा,
—कुन्दाग्रवत्—कुन्दपुष्पाग्रभागवत्, मनोरमा इत्यर्थः, दन्ताः
यस्याः तादृशीम्, [अत्र समासः] राजीमतीं—तदाख्यां कान्ताम्
इत्यर्थः, त्यजन्—विजहत्, तां परित्यज्य विषयभोगे विरक्ति-
मुपागम इति यावत् ; जिनपतिः,—बृहदेवः, वः,—युष्मान्,
पातु—रक्षतु । अत्र उपमेयानां राजीमती-तदानन नेत्र-
युगल-दन्तरूपाणाम् उपमानैः राजहंसीचन्द्रमण्डलं नीलोत्पल-
कुन्दपुष्पाग्ररूपैः सादृश्यं, तच्च “राजहंसायते” इति क्यङ्प्रत्य-
येन, “इव” इत्यव्ययेन, “अनुकरोति” इति तुल्यार्थक्रियया,
“कुन्दाग्रदतीम्” इत्यत्र समासेन च बोध्यते इत्युपमाऽलङ्कार-
सङ्गतिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

अपरमप्युदाहरणमाह, चन्द्रवदति ।—तस्याः,—प्रसि-
द्धायाः कान्तायाः, राजीमत्या इत्यर्थः, वदनं—मुखं, चन्द्रवत्
—चन्द्रेण तुल्य मनोहरमित्यर्थः ; नेत्रे—नयने, नीलोत्पले—
इन्दीवरे इव, ओष्ठः,—अधरः, पक्कविम्बं—परिणतं विम्बफलं,
हसति—उपहसति, भित्तिरस्करोतीत्यर्थः, यद्वा,—हसति—अनु-
करोति, धातूनामनेकार्थत्वेनात्र हसधातोरनुकरणरूपतुल्यार्थ-
तैव अस्य बहुटोकाकारकृततुल्यार्थलोदाहरणानुरोधेन स्त्रोक्ति-

अन्यचोदाहरणम्,—

ममभरिअमाणसस्सवि णिच्चं दोसाअरस्स ससिणोव्व ।

तुह विरहे तीअ मुहं संकुडअं सुहअ ! कुमुअंव्व ॥ ५३ ॥

यते इति ध्येयम् ; भ्रुवः,—नेत्रयोरुर्ध्वस्थिता रोमराजयः, पुष्प-
धन्वनः,—कामस्य, धनुः,—शरासनं, हसन्ति इति वचनव्यत्यये-
नान्वयः । [अत्र भ्रूशब्दे बहुवचनमविवक्षितम्] यद्वा,—
पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवः इत्येकं पदं, पुष्पं धनुः यस्य असौ पुष्पधन्वा
—कामः, तस्य धनुः इव भ्रूः यस्याः तथाभूतायाः, [अस्मिन्
पक्षे,—तस्या इत्यस्य विशेषणमिदम्] । अत्र वदननेत्रौष्ठभ्रुवाम्
उपमेयानां चन्द्रनीलोत्पलपक्वविस्वकामधनुर्भिः सह सादृश्यं
क्रमशः “वत्” इति प्रत्ययेन “इव” इति अव्ययेन, “हसति”
इति तुल्यार्थपदेन च वर्णनात् उपमाऽलङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तं
वृत्तम् ॥ ५२ ॥

प्राकृते काव्येतामेव उदाहरति, मम इति ।—[“मदभृतमानस-
स्यापि नित्यं दोषाकरस्य शशिन इव । तव विरहे तस्या मुखं
सङ्कुचितं सुभग ! कुमुदमिव ॥” इति संस्कृतम्] । हे सुभग !—
सौभाग्यशालिन् !, नित्यं—सततं, मदेन—हर्षेण, भृतं—सम्भृतं,
पूर्णमिति यावत्, मानसं—चित्तं, यस्य तथोक्तस्य, सततानन्द-
प्रफुल्लचित्तस्येत्यर्थः, अन्यत्र,—मदः,—कस्तूरी, (“मदो रेतसि
कस्तूर्यां गर्वे हर्षमदानयोः” इति मेदिनी) सोऽस्यास्ति इति
मदः,—कस्तूरीमृगः, [मदशब्दादस्यर्थं “अश्व-आदिभ्योऽच्”
(५।२।१२७ पा०) इति अच्प्रत्ययः] तेन भृतं—व्याप्तं,
मानसं—हृदयं, लक्षणया तदुपलक्षितो मध्यदेश इत्यर्थः,
उत्सङ्ग इति यावत्, यस्य तथाविधस्य, दोषाकरस्य—विविध-
दोषपूर्णस्य, अन्यत्र,—रात्रिजनकस्य निशाकरस्य, (“दोषाकरो
दोषपूर्णं त्रिषु पुंसि निशाकरे” इत्यजयः) अपि शशिनः इव—

उपमेयोपमाया उदाहरणम्,—

तं णमह वीतरात्रं जिणं दमुद्दलितदृढतरकषायम् ।

जस्स मणं व्व शरीरं मणं शरीरं व्व सुपसन्नं ॥ ५४ ॥

चन्द्रस्य इव, तव—भवतः, विरहं—वियोगं, तस्याः,—कामिन्याः, सुखं—वदनं, कुमुदम् इव—रात्रिविक्रामिसरोजविशेषवत्, मङ्गुचितं—मुद्रितं, भवति इति शेषः । अत्र सुभगस्योपमेयस्य चन्द्रस्योपमानस्य च, तथा तत्पदवाच्य-कान्तानुस्रस्योपमेयस्य कुमुदस्य चोपमानस्य विरहकालिकं मादृश्यम् इवपदेनाभिहितमिति स्फुटं उपमालक्षणमङ्गतिः ॥ ५३ ॥

उपमाविशेषोपमेयोपमामुदाहरति, तं णमह इति ।—[“तं नमत वीतरात्रं जिणं दमोद्दलितदृढतरकषायम् । यस्य मन इव शरीरं मनः शरीरमिव सुप्रसन्नम् ॥” इति संस्कृतम्] हे सेवकाः ! (इति आमन्त्रणपदमध्याहार्यम्) वीतरात्रं—विगतविषयवामनं, दमेन—इन्द्रियाणामन्तर्निग्रहेण, उद्दलिताः,—वशीकृताः, अत एव दृढतराः,—अतिशयेन निश्चलाः, कषायाः,—कामक्रोधादय इति यावत्, (“कषायः सुरभी रसे । रागवस्तुनि निर्यामि क्रोधादिषु विलेपने ॥” इति हैमः) येन तथाविधं, तं—तादृशमित्यर्थः, जिणं—बुद्धदेवं, नमत—सेवध्वम् इत्यर्थः । तं कीदृशम् ? इत्याह, यस्येति ।—यस्य—बुद्धस्य, शरीरं—देहः, मन इव—चित्तमिव, अन्तःकरणमिवेति यावत्, मनश्च—चित्तञ्च, शरीरम् इव—देहवत्, सुप्रसन्नं—प्रसादगुणयुक्तं, नित्यप्रफुल्लमित्यर्थः, वर्तते इति शेषः । अत्र प्राक् शरीरम् उपमेयं, मनः उपमानं, पश्चात् मनः उपमेयं, शरीरञ्चोपमानमिति शरीरमनसोरुपमानोपमेयभावः क्रमेण परस्परं निर्दिष्ट इति उपमाविशेषः ; अत एव एताम् “उपमेयोपमा” इत्याहुर्नन्याः, तथा हि साहित्यदर्पणकारः,—“पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता” इति ॥ ५४ ॥

अनन्वयोपमाया उदाहरणम्,—

ये देव ! भवतः पादौ भवत्पादाविवाश्रिताः ।

ते लभन्तेऽङ्गतां भव्यां श्रियं त इव शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

बहुपमेयमूलोपमाया उदाहरणम्,—

आलोकनञ्च वचनञ्च निगूहनञ्च

यासां स्मरन्नमृतवत् सरसं क्लृप्तम् ।

उपमाभिदानन्वयोपमामुदाहरति, ये इति ।—हे देव !—
प्रभो ! ये—जनाः इत्याशयः, भवतः,—तव, पादौ—चरणौ,
भवत्पादौ इव—भवतः,—तव, पादौ—चरणौ इव, (“राम-
रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव” इत्यादिवत् पादयोरनन्योपमान-
त्वात् भवत्पादावेव भवत्पादयोः उपमानं बोध्यम्) आश्रिताः,
—प्राप्ताः, ते—जनाः, ते इव—लोकोत्तरा इव इत्याशयः,
अङ्गताम्—अपूर्वाम्, आश्रयार्थजनिकामित्यर्थः, भव्यां—कल्याण-
विधायिनीं, समीचीनामिति यावत्, शाश्वतीं—नित्याम्, अवि-
नार्शिनोर्मित्यर्थः, श्रियं—सम्पदं, लभन्ते—प्राप्नुवन्ति । अत्र उप-
मानोपमेययोरैक्यमिति विशेषः ; अत एव नव्याः इमामेव अन-
न्वयालङ्कारमाहुः, तदुक्तं दर्पणकृता,—“उपमानोपमेयत्वमेक-
स्यैव त्वनन्वयः” इति । अत्र हि पूर्वार्द्धे प्रथमोक्तौ “पादौ” इति
उपमेयं, पश्चादुक्तौ “पादौ इव” इति उपमानम्, एवं परार्द्धे “ते”
इति उपमेयं, “ते इव” इत्युपमानम् । पथ्यावक्तव्यं ॥ ५५ ॥

उपमेयानामनेकत्वनिबन्धनाऽप्युपमा सम्भवतीति तामेवो-
दाहरति, आलोकनमिति ।—कश्चित् रागिणं प्रति कस्यचित्
विरागिणः उक्तिरियम् । हे मित्र ! (इति अथाहार्यं) यासाम्
—अङ्गनानाम्, आलोकनम्—अवलोकनञ्च, वचनञ्च—भाष-
णञ्च, निगूहनम्—आलिङ्गनञ्च, अमृतवत्—अमृतेन तुल्यं,
सुधासदृशमित्यर्थः, सरसं—सुखदशान्तिनिदानमित्यर्थः, स्मरन्

तासां किमङ्ग ! पिशितास्थिपुगीपपात्रं
गात्रं विचिन्त्य सुदृशां न निराकुलोऽसि ? ॥ ५६ ॥

अनेकोपमानमुपमापुपमापुदाहरति,—

कलेव चन्द्रस्य कलङ्कमुक्ता

मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना ।

जगत्तयायाभिमतं ददाना

जैनेश्वरी कल्पलतेव मूत्तिः ॥ ५७ ॥

—अनुचिन्तयन्, मन्वानः इति यावत्, त्व क्लेशः,—क्षीणः,
दुर्बल इत्यर्थः, अस्मि इति शेषः, अङ्ग !—भीः ! सुदृशां—
सुनयनानां, तासां—तादृशानामपि स्त्रीणां, गात्रम्—अङ्गं,
पिशितं—मांसम्, अस्थि—कलङ्कालम्, [“अन्न” इति पाठान्तरे
तु,—अन्नं—रुधिरमित्यर्थः, “अन्नः कोणे कचि पुंसि क्लौवमश्रुणि
शोणिते” इति मेदिनी] पुगीजं—विष्टा, च तेषां पात्रम्—
आधारभूतं, विचिन्त्य—विविच्य, न निराकुलः,—अव्याकुलः.
असि किन् ? अत्र काकुः, अपि तु निराकुल एव भवितुमर्ह-
सीति भावः । अत्र उपमेयानाम् आलोकनवचननिगूहनानां
बह्वनाम् एकेन अमृतेन उपमानेन आदृश्यम् इति विशेषः,
तेन च बह्वपमेयसमुच्चितेयमुपमाऽलङ्कृतिः । वसन्ततिलकं
हृत्तम् ॥ ५६ ॥

सम्प्रति बह्वपमानमूलमुपमाविशेषमुदाहरति, कलेवेति ।

—चन्द्रस्य—चन्द्रमसः, कला इव—अंश इव, कलङ्कमुक्ता—
निष्कलङ्का, अन्यत्र,—निर्दोषा इत्यर्थः, मुक्ताऽऽवली—मुक्ता-
हारः, इव उरुणा—सहता, गुणेन—सूत्रेण, प्रपन्ना—गुम्फिता,
अन्यत्र,—उरुभिः,—सहद्भिः, गुणैः,—गार्भाभ्यांदाभ्यांदिभ-
रिति यावत्, प्रपन्ना—युक्ता इत्यर्थः, कल्पलता इव—द्वितीयो
इव, उपपन्नानां समस्तकामपूरकसुरतरुविशेषवदिति यावत्,

उपमादीषान् तत्प्रतिपत्तवच्चाह,—

विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिकाञ्च ताम् ।

निबध्नन्ति बुधाः कापि लिङ्गभेदन्तु मेनिरे ॥ ५८ ॥

जगत्त्रयाय—त्रिभुवनाय, अभिमतं—वाञ्छितं, फलमिति यावत्. ददाना—प्रितरन्ती, जैनेश्वरी—जिनः,—बुद्धदेवः, एव ईश्वरः,—अणिमाऽऽद्यष्टसिद्धिशाली प्रभुः, तस्येयम् इति तयोक्ता, बुद्धदेवसम्बन्धितोत्तर्यः, मूर्त्तिः,—प्रतिकृतिः, वर्त्तते इति शेषः । अत्र एकस्याः एव मूर्त्तेः उपमेयभूतायाः चन्द्रकला मुक्तावली कल्पलतारूपाणि त्रीणि उपमानानि इति विशेषः, अत एव इयं “मालोपमा” इति नय्याः प्राहुः ; तदुक्तं दर्पणप्रतापे,—“मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते” इति । काव्यादर्शकारास्तु—इमामिव बहूपमाननिर्देशमूलां बहूपमा-माचक्षाणः उदाहरन्ति,—“चन्दनोदक-चन्द्रांश्च चन्द्रकालादि-शीतलः । स्पर्शस्तवेत्यतिशयं बोधयन्तो बहूपमा ॥” इति । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्जयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ५९ ॥

उपमाया दोषानाह, विभिन्नेति ।—बुधाः,—विद्वांसः, विभिन्ने—पृथग्भूते, लिङ्गवचने यस्यां ताम्, अतिहीनाधिकाम्—अतिहीनाम्—अत्यपक्वष्टाम्, अत्यधिकाम्—अत्युत्कृष्टाञ्चेत्यर्थः, ताम्—उत्तरूपासुपमामित्यर्थः, न निबध्नन्ति—रचयन्ति ; कापि—कचित्तु, केषुचित् स्थलेषु तु इति यावत्, लिङ्गभेदं,—लिङ्गपार्थक्यम्, (उपलक्षणमेतत्, तेन वचनभेदञ्चापि ज्ञेयम्) मेनिरे—मन्यन्ते स्म, निर्दोषमिति श्रेष्ठः । अत्रेदं बोध्यम्,—उपमानोपमेययोः साधर्म्यमुपमा ; तयोः साधर्म्यञ्च, अत्युत्कृष्टत्वातिनिष्ठत्वयोः विभिन्नलिङ्गत्वे विभिन्नवचनत्वे च निरतिशयकष्टकल्पतापातात् अलङ्कारत्वप्रयोजकचमत्कारत्वप्रतीति-

उदाहरति,—

हिममिव कीर्तिर्वचना

चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः ।

व्याघाताच्च न सम्भवति, अतः तन्निर्वाहार्थम् उपमानस्य उप-
मेयस्य च जातिप्रमाणादिना उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वादिना च
अत्यधिकत्वे अतिन्यूनत्वे वा, तथा उपमानोपमेययोः विभिन्न-
लिङ्गवचनत्वे सादृश्यप्रतीतिविघातः प्रतीतिसिद्धः । यत्र तु
“ह्यायेव तां भूयतिरन्वगच्छत्” “सरागपद्मं तव चक्षुषी प्रिये !”
इत्यादौ लिङ्गवचनयोर्विभिन्नत्वेऽपि रचनानैपुण्यवशात् न
विभेदप्रतीतिः, न वा चमत्कारित्वप्रतीतिव्याघातः, तत्र उप-
मानोपमेययोरवाधेनैव साधर्म्यप्रतीतिनिर्वाहादुपमा निर्दोषै-
वेति आलङ्कारिकैः परिशीलितः पन्थाः ॥ ५८ ॥

उपमानोपमेययोरलिङ्गवचनभेदम्, उपमेयापेक्षया उप-
मानस्य जात्या प्रमाणेन च अतिनिकृष्टत्वमत्यधिकत्वञ्च क्रमे-
णोदाहरन्नाह, हिममिति ।—हे राजन् ! (इति अध्याहार्यम्) ।
ते—तव, कीर्तिः,—यशः, हिमम् इव—तुषार इव, धवला—
शुभ्रा, (अत्र उपमानं “हिमम्” क्लीबलिङ्गम्, उपमेयरूपायाः
कीर्तिः स्त्रीलिङ्गता इति लिङ्गभेदः, अथञ्च उपमानोपमेययोः
साम्ययावातकः, धवलरूपसाधर्म्यव्यञ्जकशब्दस्य एकरूपेण
उभयोः विशेषणत्वानुपपत्तेः इति बोध्यम्) ते वाचः,—वाक्यानि,
चन्द्रकला इव अतिनिर्मलाः,—निरतिशयकीमलाः, भवन्तीति
शेषः, (अत्र उपमानस्य “चन्द्रकला” इति पदस्य एकवचनान्तता,
उपमेयस्य “वाचः” इति पदस्य बहुवचनान्तता इति
वचनभेदः, किन्तु नार्थो दुष्टः, उपमानोपमेययोः उभयोरिव
स्त्रीलिङ्गत्वेन वचनभेदेऽपि विशेषणस्यातिनिर्मलशब्दस्य
बहुवचनान्तत्वपक्षेऽपि सम्भो विसर्गलोपात् उभयविशेषणत्वे-

ध्वाङ्गस्येव च दाक्ष्यं

नभ इव वक्ष्यते विपुलम् ॥ ५८ ॥

अपरीदाहरणप्रकारः,—

शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।

खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ॥ ६० ॥

नैवान्वयेन साध्यनिर्वाहात्, यद्यपि दोषोदाहरणप्रसङ्गे “वाचः” इत्यत्र “वाक्यम्” इति पाठपरिवृत्तौ प्रकृतोदाहरणं सङ्गच्छते, तथाऽपि एकत्रैव लिङ्गवचनोभयभेदोक्त्यानात् वचनमात्रभेदोदाहरणासङ्गतिः सुस्थितैवेति बोध्यम्) तव दाक्ष्यं—चातुर्यं, ध्वाङ्गस्य इव—काकस्य इव, काको यथा नितरां चतुरः, तथा त्वमपि इति भावः, (अत्र उपमानस्य ध्वाङ्गस्य राजापेक्षया जात्या अतिहानत्वम् इति हीनोपमत्वम् ; इदञ्च जात्या उक्तृष्टमपि निज्जष्टं प्रत्याययत् तयोः साम्यं निहन्ति इति दूषकतावोजं बोध्यम्) वक्ष्य—उरःस्थलञ्च, नभः इव—आकाशम् इव, विपुलं—विशालम् । अत्र तु उपमानस्य नभसः वक्ष्येऽपेक्षया प्रमाणतः आधिक्यम् इति अधिकोपमत्वम् ; इदञ्च उपमेयस्य उपमानेन समं साधर्म्यम् असम्भावयत् श्रोतुर्वेगमुत्पादयतीति दूषकतावोजम् । आर्या वृत्तम् ॥ ५८ ॥

उपमानस्य जात्या प्रमाणतश्च क्रमेणात्यधिकत्वमतिन्यूनत्वञ्चोदाहरति, शुनीति ।—इयं—परिदृश्यमाना, शुनी—कुकुरी, प्रत्यक्षा—वस्तुविषयीभूता, गृहदेवी इव—गृहदेवता इव, प्रतिभासते—राजते ; (अत्र उपमानस्य गृहदेवतापदार्थस्य उपमेयकुकुरापेक्षया जात्या अत्यधिकत्वम्, इदञ्च साम्यं परिहरत् वस्तुजघन्यत्वं निदर्शयतीति दूषकतावोजम्) प्रतापश्च—प्रभावश्च, खद्योतः इव—ज्योतिरिङ्गण इव, (खद्योतो ज्योतिरिङ्गण, इत्यमरः) सर्वत्र—सर्वत्रान् देशे इत्यर्थः, विराजते—

हीनाधिकविशेषणमुपमानमुदाहरति,—

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धिः शार्ङ्गीव शङ्खभृत् ।

स्रगोतन्मदः करी वर्षन् विद्युत्वानिव वारिदः ॥ ६१ ॥

शोभते; अत्र उपमानस्य ज्योतिरिङ्गणस्य उपमेयरूपया दिगन्त-
व्यापिप्रतापापेक्षया प्रमाणतोऽतिन्यूनत्वं, सर्वत्र तत्तदधिकगुण-
वदुपमानेनोपमेयस्य उत्कर्षो बोध्यते, इह तु उपमानम्
उपमेयस्य अपकर्षापादकत्वेन स्थितम् इति दूषकताबीजम् ।
पथावक्तं वृत्तम् ॥ ६० ॥

उपमानस्य विशेषणकृतं न्यूनत्वमधिकत्वञ्चोदाहरति, सफे-
नेति ।—फेनपिण्डैः,—फेनराशिभिः, सह वर्तमानः, सफेन-
पिण्डः, फेनपुञ्जध्वलित इत्यर्थः, प्रौढाः,—प्रवृद्धाः, ऊर्मयः,—
तरङ्गाः, यस्य तथोक्तः, तरङ्गमालाकुल इत्यर्थः, अब्धिः,—
समुद्रः, शङ्खभृत्—शङ्खयुक्तः, पक्षे—पाञ्चजन्यपाणिरित्यर्थः,
शार्ङ्गी इव—कृष्ण इव, वर्तते राजते वेति शेषः ; स्रगोतन्तः,—
स्रवन्तः, मदाः,—दानजलानि, यस्मात् यस्य वा सः तथोक्तः,
दानजलस्रावीत्यर्थः, करी—हस्ती, वर्षन्—वृष्टिं कुर्वन्, विद्यु-
त्वान्—तडित्वान्, वारिदः इव—मेघः इव, राजते इति शेषः ।
अत्र प्रथमम् उपमेये अञ्चौ “सफेनपिण्डः” “प्रौढोर्मिः” इति
विशेषणद्वयोपन्यासात् उपमाने शार्ङ्गीणि “शङ्खभृत्” इत्येकविशे-
षणकृतं न्यूनत्वम् इति हीनविशेषणत्वम् ; परत्र “स्रगोतन्मदः”
इत्येकविशेषणकस्य उपमेयस्य करिणः उपमाने वारिदे “वर्षन्”
“विद्युत्वान्” इति विशेषणद्वयोपन्यासात् विशेषणाधिक्यञ्चेति
उपमानोपमेययोः परस्परगतं सादृश्यमनिर्वाहयत् उपमायां
दोषपदवीमारोहति ; वस्तुतस्तु निरर्थकोऽनुचित एव वा
विशेषणाङ्गस्वरोऽयमिति बोध्यम् । पथावक्तं वृत्तम् ॥ ६१ ॥

भिन्नलिङ्गमुपमानमुदाहरति,—

मुखं चन्द्रमिवालोक्ष्य देवाह्लादकरं तव ।

कुमुदन्ति मुदाऽक्षीणि क्षीणमिथ्यात्वसम्पदाम् ॥ ६२ ॥

समासे लिङ्गभेदस्य अदीपत्वमुदाहरति,—

निजजीवितेश्चकरजाग्रत-

क्षतपङ्क्तयः शुशुभिरि सुरते ।

कदाचित् लिङ्गभेदस्यापि अनुवेजकतया नोपमादूषकत्व-
मित्युक्तं, सम्प्रति तदेवोदाहरति, मुखमिति ।—हे देव !—
राजन्, चन्द्रम् इव—सुधाकरमिव, आह्लादकरम्—आनन्द-
जनकं, तव मुखं—वदनम्, आलोक्ष्य—दृष्ट्वा, क्षीणा—नष्टा,
मिथ्यात्वस्य—असत्यतायाः, अलीकभावस्येत्यर्थः, सम्पद—
उत्कर्षः, ज्ञानम् इति यावत्, येषां तथाभूतानां, तत्त्वदर्शिना-
मित्यर्थः, पुंसाम् इति शेषः, अक्षीणि—नयनानि, मुदा—हर्षेण,
कुमुदन्ति—कुमुदानि इव आचरन्ति । चन्द्रसम्पर्केण यथा
कुमुदानि विकसन्ति तथा तव वदनसम्पर्कात् लोकानां कुमुद-
सदृशनयनान्यपि इति देवस्य वदनं चन्द्र इवेति ज्ञानस्य
शङ्कितं मिथ्यात्वम् अक्षिकुमुदविकासेन निरस्तम् इति भावः ।
अत्र मुखस्योपमेयस्य क्लीबलिङ्गतया चन्द्रस्योपमानस्य पुंलिङ्ग-
तया च तदुभयोः उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदेऽपि उभय-
विशेषणीभूतस्य आह्लादकरमित्यस्य द्वितीयैकवचनान्तत्वे
लिङ्गभेदप्रत्यायकस्य रूपभेदस्यासत्त्वेन उपमा अदुष्टैवेति
बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६२ ॥

लिङ्गभेदेऽपि प्रकारान्तरेण समासे उपमादोषप्रतिप्रसव-
मुदाहरति, निजेति ।—सरोजे—पङ्कजे इव, मनोरमे इति
भावः, दृशौ—नयने यस्याः तथोक्तायाः सरोजदृशः,—पद्माद्याः
इत्यर्थः, सुरते—कान्तसङ्गमे, निजजीवितेश्च—निजप्राण-

कुपितस्मरप्रहितवाणगण-

व्रणजर्जरा इव सरोजदृशः ॥ ६३ ॥

विभिन्नलिङ्गं रूपकमुदाहरति,—

हस्ताग्रविन्यस्तकपोलदेशा

मिश्रोमिलत्कङ्कणकुण्डलश्रीः ।

नाथस्य, स्वकोयकान्तस्येत्यर्थः, करजाग्रैः—नखाग्रैः, कृतानां—
जनितानां, क्षतानां—व्रणानां, पङ्क्तयः,—श्रेणयः, कुपितेन—
क्रुद्धेन, स्मरेण—कामेन, प्रहिताः,—प्रेषिताः, निक्षिप्ता इति
यावत्, ये वाणगणाः,—शरमसूत्राः, तैः व्रणानां—क्षतानां,
जर्जराः इव—चिह्नानि इव, शशुभिरे—राजन्ते स्म । अत्र
“सरोजदृशः” इत्यत्रोपमानवाचकस्य सरोजशब्दस्य क्लीबत्वम्,
उपमेयवाचकस्य “दृश” इत्यस्य स्त्रीत्वमिति समासगता भिन्न-
लिङ्गता, एवम् उत्प्रेक्षासूलीपमायां क्षतपङ्क्तिरूपोपमेयस्य
स्त्रीलिङ्गतया, तथा व्रणजर्जररूपोपमानस्य च पुल्लिङ्गतया
उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदेऽपि उभयोः प्रथमावहुवचनान्तत्वेन
लिङ्गभेदप्रत्यायकस्य रूपभेदस्य असत्त्वादियम् उपमा अदुष्टैव ।
श्लोकेऽस्मिन् पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गयोर्वहुवचनैक्यं, पूर्वत्र तु नपुंसक-
पुल्लिङ्गयोरैकवचनैक्यम् इति पूर्वस्माद् विशेषः । प्रमिताक्षरा
वृत्तम् ;—तल्लक्षणं यथा,—“प्रमिताक्षरा सजसमैः कथिता”
इति ॥ ६३ ॥

न केवलमुपमायामिव लिङ्गभेदकृतदोषस्यैवं प्रतिप्रसवः,
किन्तु अन्यत्राप्यतो रूपकेऽपि लिङ्गवचनभेदजदोषप्रतिप्रसव-
मुदाहरति, हस्तेति ।—अवग्यः,—अवशङ्कतः, नाथः,—पतिः,
यस्याः सा, अनायत्तोक्तपतिका इत्यर्थः, काचित्—कापि
कान्ता इत्यर्थः, हस्तस्य—करस्य, अग्रे—पुरोभागे, वारतले
इत्यर्थः, विन्यस्तः,—अर्पितः, कपोलदेशः,—गण्डस्थलं, यया

सिषेच नेत्रस्रवदशुधारै-

दोःकन्दलीं काचिदवश्यनाया ॥ ६४ ॥

भिन्नलिङ्गां प्रतिवस्तूपमासुदाहरति,—

बहुवीरेऽप्यसावेकी यदुवंशेऽद्भुतीऽभवत् ।

किं केतव्यां दलानि स्युः सुरभीण्यखिलान्यपि ? ॥ ६५ ॥

तथोक्ता, करतलस्थापितगण्डस्थलेत्यर्थः, अत एव मिथः,—
परस्परं, मिलन्ती—सङ्गच्छमाना, करकर्णयोरतिसामीप्यादिति
भावः, कङ्कणकुण्डलयोः,—हस्तालङ्कार-कर्णालङ्कारयोः, श्रीः,
—शोभा, यस्याः तथाभूता सती, नेत्राभ्यां—नयनाभ्याम्,
(५मो) स्रवद्भिः,—चरद्भिः, अश्रूणां—नयनजलानां, धारैः,—
धाराभिः इत्यर्थः, दोः,—भुजः एव, कन्दली—लताविशेषः,
तां, दोःकन्दलीं,—भुजकन्दलीलताम् इत्यर्थः, सिषेच—अभि-
षिञ्चती । अत्र “दोःकन्दली” इत्यत्र रूपके उपमेयीभूतः
दोःशब्दः पुंलिङ्गः, उपमानीभूतः कन्दलीशब्दः स्त्रीलिङ्गः,
इत्यनयोर्लिङ्गभेदेऽपि साम्यस्य तदुभयामेदाध्यवसायमूलतया
बोधाददोषः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ६४ ॥

प्रतिवस्तूपमायां लिङ्गभेदकृतदोषस्य प्रतिप्रसवं दर्शयति,
वद्विति ।—बहवः,—अनेके, वीराः,—ख्यातविक्रमाः शूराः,
यत्र तादृशे, अपि, यदुवंशे—यादवकुले, असौ—कृष्णः, एकः,
—केवलः, कृष्ण एवेत्यर्थः, अद्भुतः,—अलौकिकवीरत्वसम्पन्न
इत्यर्थः, अभवत्—अजायत ; तथा हि, केतव्यां—केतकौ-
लतायाम्, अखिलानि—समग्राणि, अपि दलानि—पत्राणि,
किं सुरभीणि—सुगन्धोनि, स्युः ?—भवेयुः ? नैव इत्यर्थः । अत्र
उपमेयभूतस्य यदुवंशस्य पुंस्त्वन्, उपमानभूतायाः केतव्यास्तु
स्त्रीलिङ्गत्वमिति ; तथा उपमेयभूतानां वीराणां पुंलिङ्गत्वम्,
उपमानभूतानां दलानान्तु स्त्रीलिङ्गत्वम् इति ; तथोपमेयभूत

रूपकमाह,—

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत् ।

समस्तं वाऽसमस्तं वा खण्डं वाऽखण्डमेव वा॥६६॥

समस्तमखण्डं रूपकमुदाहरति,—

कीर्णान्धकारालकराजमाना

निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।

एकः पुंलिङ्गः, किमपि एकमेव सुरभितं भवतीति व्यज्यमानं वस्तु क्लौवल्लिङ्गमित्यनेकधा लिङ्गभेदोऽपि वक्ष्यमाणप्रतिवस्तूपमायाः प्रकृतार्थाविघटकतया न कच्चिद्दोषमावहति इति बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

सप्रभेदं रूपकं लक्षयति, रूपकमिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, साधर्म्यात्—साधारणधर्ममाश्रित्येत्यर्थः, अर्थयोः,—उपमानोपमेयगतयोः प्रतिपाद्यवस्तुनोः, अभिदा—अभेदः, तादात्म्यपर्यवसानमुपमानोपमेयगतैकात्मकत्वबुद्धिरिति यावत्, भवेत्—स्यात्, तत् रूपकं—रूपकनामालङ्कारः; अन्योऽन्यसाधर्म्यस्य सर्वथा गम्यत्वे हि रूपकं, वाच्यत्वे तु न तथा, तत्तूपमेवेति फलितम् । तत् च रूपकं समस्तं—समासघटितं वा, असमस्तं—समासाघटितत्वेन तद्विभ्रं व्यस्तीमिति वा, इति द्विधा ; तदपि समस्तमसमस्तं वा रूपकं खण्डं—केवलं, निरङ्गम् इत्यर्थः, अखण्डं—पूर्णं, साङ्गम् इत्यर्थः, तदेवं समुदायेन चतुर्विधं रूपकम् इत्याशयः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

समस्तम् अखण्डं रूपकम् उदाहरति, कीर्णति ।—कीर्णाः,—परितः विस्तीर्णाः, अन्धकाराः,—तमांसि, एव अलकाः,—चूर्णकुन्तलाः, तैः राजमाना—शोभमाना, [“राजमाना” इत्यत्र “शालमाना” इति पाठान्तरे—शालतेः शोभार्थकत्वेना-

निशापिशाची व्यचरद्धाना

महान्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥ ६७ ॥

असमस्तमखण्डं रूपकमुदाहरति,—

संसार एव कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि ।

इह धर्म्म एव रज्जुस्तस्मादुडरति निर्मग्नान् ॥ ६८ ॥

त्रापि स एवार्थः] निबद्धाः,—सर्वास्वाशासु विशेषतो विलम्बाः व्यक्तीभूतत्वं गताः इति यावत्, ताराः तारकाः एव अस्थिमणयः स्वगलविलम्बास्थिरूपरत्नविशेषाः यस्याः तादृशी, यद्वा,—मालाकारेण परिहिताः, ताराः,—नक्षत्राणि,—एव अस्थीनि—कङ्कालाः, तानि एव मणयः,—मुक्ताफलवज्रादिमणयः इत्यर्थः, यया तादृशी, महान्ति—सताराणि, उच्चैरित्यर्थः, उलूकानां—पेचकानां, ध्वनयः,—रवा एव, फेत्कृतानि—फेदित्याकारकाः अव्यक्तविकृताः चीत्काराः, तानि दधाना—धारयन्ती कुर्वन्तीत्यर्थः, निशा—रात्रिः एव, पिशाची—पिशाचाख्यदेवयोनि-विशेषस्य अङ्गना, कुतः अपि—कस्मात् अपि, अविदितप्रदेशादित्यर्थः, आगत्य इति शेषः, व्यचरत्—विचरति स्म, परिवभ्राम इत्यर्थः । अत्र कालिमसाम्यात् कुन्तलैरन्धकारस्य, शुक्लभास्वरवर्तुलतादिमाम्यात् मणिभिस्तारकाणां, भयङ्करभीषकत्वादि-साधर्म्यात् पिशाचाङ्गनया निशायाः, कार्कश्यामङ्गलव्यञ्जकतादिसाम्यात् फेत्कारैरुल्करवाणाम्, अभेदाध्यवसानम् ; तच्च सर्व्वं समासान्तर्गतम् इति समस्तमखण्डं रूपकमिदम् । इन्द्र-वज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ६७ ॥

असमस्तम् अखण्डं रूपकम् उदाहरति, संसार इति ।—संसारः,—विश्वः, एव कूपः,—जलाशयविशेषः, प्रतिभाति इति शेषः ; यतो हि, इह—अस्मिन् संसारकूपे, विपत्तिजन्मदुःखानि—विपत्तेः,—आपदः, जन्म—उत्पत्तिः, यैषां तानि, तथा-

समस्तं खण्डरूपकमुदाहरति,—

अधरं मुखेन नयनेन रुचिं
सुरभित्वमाजमिव नासिकया ।
नववर्णिनीवदनचन्द्रमस-
स्तरुणा रसेन युगपन्निपपुः ॥ ६८ ॥

विधानि दुःखानि, आपदुद्भूतकष्टानीत्यर्थः, अथवा—विपत्तिः,
—आपद्, जन्म—पुनरुद्भवः, दुःखं—नानाप्रकारकष्टं, तेषां
द्वन्द्वः, तानि एव, सलिलानि—जलानि, अत्र मन्तीति शेषः,
निमग्नान्—बुड्ढितान्, निमज्जितान् इत्यर्थः, जनानिति शेषः,
धर्मः,—सुकृतम्, एव रज्जुः,—गुणः, तस्मात्—संसारकूपादि-
त्यर्थः, उद्धरति—उत्तोलयति, रक्षताति यावत् । अत्र दुरव-
गाहदुर्वोधतादिमाधर्म्यात् कूपसंसारयोः, अनियतत्वचाच्च-
ल्याश्विनाशित्वादिमाधर्म्यात् सलिलदुःखयोः, पतितोद्धारणाह-
त्वादिसाधर्म्यात् धर्मरज्ज्वोरभेदाध्यवसानं, तच्च असमासकृतम्
इति असमस्तम् अखण्डं रूपकमिदम् । आर्या वृत्तम् ॥ ६८ ॥

समस्तं खण्डं रूपकम् उदाहरति, अधरमिति ।—तरुणाः,
—युवानः, रसेन—रागातिभरेण, सातिशयप्रीतिपरवशतये-
त्यर्थः, नववर्णिनीवदनचन्द्रमसः,—नवोद्गायाः वरवर्णिन्याः
कान्तायाः मुखचन्द्रस्य, [“नवकामिनीवदनचन्द्रमसः” इति
पाठान्तरेऽपि अयमेवार्थः] अधरम्—ओष्ठाधोदेशं, मुखेन—
वदनेन, रुचिं—कान्तिं, नयनेन—नेत्रेण, आजम् इव—पद्म-
समुत्थम् इव, कमलसखन्वीत्यर्थः, [अर्जमिति पाठे तु—अज-
पदमत्राजगतत्वे लाक्ष्णिकम् अजसखन्वीत्यर्थः, सौरभसौकुमा-
र्यातिशयप्रत्यायनाथमुपन्यस्तमित्यवधेयम्] सुरभित्वं—सौर-
भम्, घ्राणतर्पणम् इष्टगन्धमिति यावत्, नासिकया—घ्राणन्दि-
येण, युगपत्—समकालं, निपपुः,—निःशेषं यथा तथा पिबन्ति

खण्डमसमस्तं रूपकमुदाहरति,—

ज्योत्स्नया धवलीकुर्वन्नुर्वीं सकुलपर्वताम् ।

निशाविलासकमलमुदेति स्म निशाकरः ॥ ७० ॥

स्म । अत्र उपमेयस्य वदनस्य उपमानेन चन्द्रमसा सह आल्ला-
दकत्वादिसाधर्म्येण अभेदाध्यवसानात् रूपकम् ; तच्च, उपमेयस्य
वदनस्य “अधरं मुखेन” “नयनेन रुचिम्” इत्यादिना अनेके
धर्माः स्पष्टं प्रतिपादिताः, उपमानस्य चन्द्रमसस्तु न तथा
कश्चित् धर्मः प्रतिपादितः, इति समस्तं खण्डरूपकम् । प्रमिता-
क्षरा वृत्तम् ॥ ६६ ॥

खण्डमसमस्तं रूपकम् उदाहरति, ज्योत्स्नयेति ।—
निशायाः,—रात्रेः, विलासाय—क्रीडार्थं, कमलं—पद्मेव,
लीलापद्मभूतः इत्यर्थः, निशाकरः,—चन्द्रः, ज्योत्स्नया—चन्द्रि-
कया, सकुलपर्वतां—कुलपर्वतैः,—महेन्द्रादिभिरचलैः, सहि-
ताम् ; (कुलपर्वताश्चोक्ताः कोषेषु “महेन्द्रो मलयः सह्यः
शुक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः”
इति) उर्वीं—पृथ्वीं, धवलीकुर्वन्—शुभ्रतामापादयन्, उदेति
स्म—उदियाय । अत्र स्वभावधवलत्वचित्तविनोदकत्वादि-
सान्यात् निशाविलासकमलेनोपमानेन सार्धं चन्द्रस्य उपमेय-
भूतस्य अभेदाध्यवसानं, तच्चासमासकृतमिति असमस्तं, सकल-
स्यैव निशाकरस्योपमेयस्यात्र उपमानेन सार्धं सर्वथा न सादृश्य-
माकाङ्क्षितं किन्त्वाकारमात्रेणैवात एतत् प्रतिपादनादिदं खण्डं
रूपकम् उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदेनोपन्यासात् न सदोष-
मेवेति बोध्यम्, अत्र तु सामाजिकानां साम्यावबोधे कस्याप्य-
हेगस्याजायमानत्वात् ; लिङ्गवचनादिभेदनिबन्धानां दोषाणां
हि सभ्यानां साम्यग्रहणोद्देगकारित्वे एव दूषकता स्वीकारा-
दिति चिन्तनीयम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ७० ॥

प्रतिवस्तूपमाह, —

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।

यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ ७१ ॥

प्रतिवस्तूपमीदाहरणम्, —

बहुवीरिऽप्यमावेको यद्वंशेऽद्भुतोऽभवत् ।

किं केतव्यां दलानि स्युः सुरभीष्यस्त्रिनान्यपि ? ॥ ७२ ॥

भ्रान्तिमन्तमाह, —

वस्तुन्यन्यत्र कुवापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

निश्चयो यत्र जायत भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा ॥ ७३ ॥

सम्प्रति प्रतिवस्तूपमां लक्षयति, अनुपात्ताविति ।—यत्र—
यस्मिन् अलङ्कारे, इवादीनां—साधर्म्यद्योतकानामिवयथादि-
शब्दानाम्, अनुपात्तौ—अनुपादाने सति, वस्तुनः,—प्रकृतस्य
अर्थस्य, उपमेयस्येत्यर्थः, प्रतिवस्तुना—अप्रकृतेन अर्थेन, अप्रा-
सङ्गिकोपमानेनेत्यर्थः, साम्यं—साधर्म्यं, प्रतीयते—अवबुध्यते,
सा तु—तैवेत्यर्थः, प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमानामालङ्कारः,
कथ्यते इति शेषः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ७१ ॥

उक्तामेव प्रतिवस्तूपमाम् उदाहरति, बहुवीरे इति ।—
[६५ नं श्लोके व्याख्या द्रष्टव्या] । अत्र इवादीनाम् अनुपादाने
अपि यद्वंशस्य प्रकृतस्य प्रतिवस्तुभूतया केतव्या, तथाभूतानां
वीराणां तथाभूतैः तद्गलैः, अमुष्मिन्नेकस्मिन्नेव वीरे अद्भुतत्वस्य,
सुरभित्वेन सह साम्यप्रतीतिः प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । पथ्यावक्तं
वृत्तम् ॥ ७२ ॥

इदानीं भ्रान्तिमन्तमलङ्कारं लक्षयति, वस्तुनीति ।—यत्र
—यस्मिन् अलङ्कारे, अन्यत्र—अन्यस्मिन्, कुत्र अपि—कस्मि-
न्नपि, अतथाभूतेऽपि इत्यर्थः, वस्तुनि—पदार्थः, तत्तुल्यस्य—तत्
सदृशस्य, अन्यवस्तुनः,—पदार्थान्तरस्य, निश्चयः,—तदात्मकत्व

भ्रान्तिमतः उदाहरणम्,—

हेमकमलंति वञ्चणे
 गाञ्चणे गिलुप्यलंति पमुञ्चि !।
 कुसुमंति तुह्य हसिण
 णिवडति भमराणां रिङ्कोली ॥९४॥

आक्षेपमात्रम्,—

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते ।
 आचक्षते तमाक्षेपमलङ्कारं बुधा यथा ॥७५॥

प्रतीतिः, जायते, स भ्रान्तिमान् स्मृतः,—कथितः । तत्र
 उदाहरणं यथा हेमत्यादि । पथ्यावक्तव्यम् ।

प्राकृतं काव्ये भ्रान्तिमन्तम् उदाहरति, हेमेति ।—[“हेम-
 कमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ! कुसुम-
 मिति तव हसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणी ॥” इति संस्कृतम्]
 कामपि कान्तां प्रति कस्यचित् कामिनः उक्तिरियम् । हे
 प्रसृताक्षि !—आयतलोचने !, तव वदने—मुखे, हेमकमलं—
 स्वर्णपद्मम्, इति, नयने—लोचने, नीलोत्पलं—नीलकमलम्,
 इति, हसिते—हासे, कुसुमं—पुष्पम्, इति मत्वा इति शेषः,
 भ्रमराणां श्रेणी—पङ्क्तिः, निपतति—त्वद्वदनं प्रति धावति
 इत्यर्थः । अत्र भ्रमराणां कान्तामुखादौ, स्वर्णकमलादितुल्य-
 तया, तद्विद्वानां स्वर्णकमलादीनां प्रतीतिः ; इति अतस्मिन्
 वस्तुनि तद्वत्ताबुद्धेरुदयात् भ्रान्तिमान् अलङ्कारः । आर्या
 वृत्तम् ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

आक्षेपं लक्षयति, उक्तिरिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे,
 प्रतिषेधस्य—निषेधस्य, उक्तिः,—कथनं, वा—यद्वा, प्रतीतिः,—
 प्रत्ययः, जायते, बुधाः,—अलङ्कारिकाः, तम् आक्षेपम् अल-
 ङ्कारं, यथा—तत्त्वेन, आचक्षते—आहुः ; यद्वा,—स च यथा

प्रतिषेधोक्तिमूलकाक्षेपस्य उदाहरणम्,—

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावतेन किमहो ! यदि तद्विपेन्द्रः ।

दम्भोलिनाप्यलमयं यदि तत्प्रतापः

स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुत्री सा ॥ ७६ ॥

प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य उदाहरणम्,—

यस्यास्ति नरकक्रोडनिवासरसिकं मनः ।

सोऽस्तु । हंसाऽनृतस्तेयतत्परः सुतरां जनः ॥ ७७ ॥

इत्यग्रिमणान्वति ; [निषेधस्य कुत्रचित् साक्षादभिधानं कुत्र-
चिच्च साक्षादनभिधानमिति निषेधस्य वाच्यत्वे गम्यत्वेऽपि चाय-
मलङ्कारः भवतीति भाव्यम्] । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

प्रतिषेधमूलमाक्षेपम् उदाहरति, इन्द्रेणेति ।—यदि सः कर्ण-
नरेन्द्रसूनुः,—कर्णस्य—तदाख्यस्य, नरेन्द्रस्य—राज्ञः, सूनुः,—
पुत्रः, जयसिंहदेवः इत्यर्थः, भवति इति शेषः, तदा इन्द्रेण—
देवराजेन, किम् ?—न किम् अपि प्रयोजनम् इत्यर्थः । यदि
तस्य—जयसिंहदेवस्य, विपेन्द्रः,—गजेन्द्रः, अस्ति इति शेषः,
अहो !—आश्चर्यं, तदा ऐरावतेन किम् ?—न किम् अपि
प्रयोजनम् इत्यर्थः । यदि अयं तस्य—देवस्य, प्रतापः, अस्ति
इति शेषः, तदा दम्भोलिना अपि—वज्रेण अपि, अलम् ?—किम्
इत्यर्थः ; वज्रं निष्फलम् इति भावः ; यदि सा तस्य पुत्री—
नगरी, अस्ति इति शेषः, ननु !—भो !, तदा अयं स्वर्गः, अपि
मुधा—मिथ्या, निरर्थकः इत्यर्थः । महीजमन्वाख्य राज्ञः तत्त-
त्कार्यकारित्वेन सर्व्वेषामप्येतेषामिन्द्रादीनां निरर्थकत्वम् इति
फलितम् । अत्र इन्द्रादीनां प्रतिषेधः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७६ ॥

प्रतीतिमूलमुदाहरति, यस्येति ।—यस्य मनः,—चित्तं,

प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य प्राक्तनकव्यस्यमन्यदुदाहरणम्, —

इच्छन्ति ये न कीर्त्तिं

कुर्वन्ति करुणाकणमपि जे नैव ।

ते धनयक्षा इव नरा ददति धनं मरणसमयेऽपि ॥

इति धनं मरणसमये वि ॥ ७८ ॥

नरकस्य—निरयस्य, क्रीडे—अङ्क, निवासः,—स्थितिः, तत्र रसिकं—प्रणयि इत्यर्थः, अस्ति—भवति, स जनः सुतराम्—अतिशयेन, हिंसानृतस्तेयेषु—हननकर्ममिथ्यावादचौर्यादिव्यापारेषु, तत्परः,—निरतः, अस्तु—भवतु ;* यस्तु न तथा, स कथमहो एवंविधे विगोते अध्वनि पदमादधाति तत्तु न जानीमः इति कवेरभिप्रायः । अत्र नरकनिवासमभीप्सुनैव पुरुषेण हिंसादिकं विधातव्यं, धार्मिकेण तु नेति भङ्गा हिंसादिकं न कर्त्तव्यम् इति निषेधप्रत्यायनादिति निषेधप्रतीति-मूलेकोऽयमाक्षेपालङ्कारः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ७७ ॥

प्राक्तने काव्येऽपि स्थितम् आक्षेपम् उदाहरति, इच्छन्तीति । —[“इच्छन्ति ये न कीर्त्तिं कुर्वन्ति करुणाकणमपि ये नैव । ते धनयक्षा इव नरा ददति धनं मरणसमयेऽपि ॥” इति संस्कृतम्] ये नराः कीर्त्तिं—यशः, न इच्छन्ति—न काङ्क्षन्ति, तथा करुणाकणम् अपि—दयालेशम् अपि, नैव कुर्वन्ति, दीनेष्विति शेषः, ते धनयक्षाः इव—धनरत्नकदेवयोनिविशेषाः इव, मरणसमये अपि—मरणसमये एव इत्यर्थः, धनं ददति—धनं परित्यज्य गच्छन्ति इति ; स्वस्यान्तिमां दशामुपस्थिता-माज्ञाय कथञ्चित् वैराग्यात् चिरसञ्चितं कृत्वायासोपलब्धं तादृशं वित्तजातमनवसरे अपात्रेऽपि विन्यस्यन्ति, आत्मनि उपभोगा-क्षमत्वदर्शनात् हेयताबुद्धेरुदयादिति भावः । अत्र मरणसमये

मशयसाह,—

इदमेतदिदं वेति साम्याद् बुद्धिर्हि संशयः ।

हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा॥७६॥

शुद्धसंशयोदाहरणम्,—

किं केशपाशः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः ?

किं वा प्रतापानलधूम एषः ।

दृष्ट्वा भवत्पाणिगतं कृपाण-

मेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ८० ॥

धनदानं कुर्वन्तः कीर्त्तिमकामयमानाः निष्करुणाः पुरुषाः
जीवदशासु धनानि तीर्थेषु न वितरन्ति इति निषेधः प्रतीयते
इति आक्षेपः । आर्या वृत्तम् ॥ ७८ ॥

संशयं लक्षयति, इदम् इति ।—इदम् एतत्, इदं वा, इत्येवम्
एकस्मिन् धर्मिणि भावाभावरूपविरुद्धधर्मद्वयाध्यासे सतीत्यर्थः,
या, हि बुद्धिः,—उभयकोट्यवगाहिनौ धीः, साम्यात्—सादृ-
श्यात्, साधारणधर्मादिरसाधारणधर्मादेशेति शेषः, संशयः,—
तदाख्यः अलङ्कारः, भवति, तथाविधबुद्धिरेव इति शेषः ; सः,—
संशयः, अपि—एव, हेतुभिः,—कारणैः, निश्चयः,—निश्चया-
त्मना परिणतः, निश्चयान्तः,—निश्चयः अन्ते यस्य तादृशः,
उत्कटैककोटिकरूपत्वात् तस्येति भावः, यथा—तत्त्वेन, स्मृतः ;
यद्वा,—यथेति उदाहरणं निर्दिष्टमुपन्यस्तम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

तत्र शुद्धं संशयम् उदाहरति, किमिति ।—हे राजन् !
भवतः पाणिगतं—हस्तस्थं, कृपाणं—करवालं, दृष्ट्वा कवीनां
मतयः,—बुद्धयः, एवं स्फुरन्ति—समुद्यन्ति इति भावः ।
किम् प्रकारः ? इत्याह, किमिति ।—एषः प्रतिपक्षस्य—शत्रोः,

निश्चयान्तमशयोदाहरणम्,—

इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमक्ष्णां
लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ? ।
आः ! स्यन्दनध्वजधृतोद्भुरताम्रचूडः
श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ॥ ८१ ॥

दृष्टान्तमाह,—

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्व-तदन्ययोः ।
तं दृष्टान्तमिति प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥ ८२ ॥

लक्ष्म्याः,—श्रियाः, केशपाशः,—केशमसूहः, किम् ? एषः
प्रतापानलस्य—प्रतापाग्नेः, धूमः किं वा ? अत्र विरोधि-
कोटिद्वयस्य तुल्यबलतया सत्त्वात्, इदमेवेति सिद्धान्तानुदयात्
शुद्धसंशयालङ्कारोऽयम् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

निश्चयान्तं तमेव उदाहरति, इन्द्र इति ।—एषः सः इन्द्रः
यदि, भवति इति शेषः, तदा अक्ष्णां—नेत्राणां, सहस्रं किं न ?
अस्ति इति शेषः, ततश्च नायम् इन्द्र इति निश्चयः । यदि
असौ लक्ष्मीपतिः,—विष्णुः, ततः कथं चतुर्भुजः न ? ततश्च
न अयं विष्णुः इति भावः । आः !,—[इति अश्रयं] ज्ञातम्
इत्यर्थे, अयं रणाग्रे—संग्रामस्य पुरतः, स्यन्दनस्य—रथस्य, ध्वजे
—चूडायां, धृतः,—निहितः, उद्भुरः,—उत्कटः, ताम्रचूडः,
—कुक्कुटः, येन तथाभूतः, श्रीकर्णदेवनृपस्य सूनुः,—पुत्रः,
राजते इति शेषः । अत्र उपन्यस्तहेतुभिः संशयस्य कथञ्चित्
निरासेन उत्कटैककोटिकतया संस्थितः निश्चयान्तः संशया-
लङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७८—^३८१ ॥

दृष्टान्तं लक्षयति, अन्वयेति ।—यत्र—अलङ्कारे, क्रियया
—अन्योऽन्यव्यापारेण, स्व तदन्ययोः,—स्वस्य—प्रकृतस्य,

उदाहरणम्,—

पतितानां संसर्गं त्यजन्तु दूरेण निर्मला गुणिनः ।

इति कथयन् जरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम् ॥ ८३ ॥

व्यतिरेकसाह,—

केनचिद् यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।

भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ८४ ॥

तदन्यस्य च—अप्रकृतस्य च, अन्वयस्थापनं—तुल्यकार्य-
कारित्वरूपसम्बन्धप्रतीतिः, स्यादिति शेषः, इति—अनया
रात्या, तं दृष्टान्तम् अलङ्कारं, मनोषिणः,—विद्वांसः, प्राहुः,—
कथयन्ति । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

उदाहरति, पतितानामिति ।—निर्मलाः,—स्वच्छाः, निर्दो-
षाश्च ; गुणिनः,—साधवः, सूत्रगुम्फिताश्च; पतितानां—पापिनां,
शियिलतया पतनोन्मुखानाञ्च ; संसर्गं—सम्मेलनं, दूरेण—
दूरादेव इत्यर्थः, त्यजन्तु—परिहरन्तु, इति कथयन्—स्थापयन्,
जरतीनां—स्थविराणां नारीणां, हारः,—मणिमयकण्ठभूषणं,
कुचयुगलं,—स्तनयुग्मं, परिहरति—परित्यजति । अत्र जर-
तीनां स्तनयोः पतितत्वात् तत्र गुणवान् हारो न शोभते
इति भावः ; अत्र पतितसंसर्गपरिहाररूपैकक्रियया अप्राकर-
णिकानां गुणिनां, प्राकरणिकैः मणिहारैः सह साम्यं प्रतीयते,
इति दृष्टान्तः । आर्या वृत्तम् ॥ ८३ ॥

व्यतिरेकं लक्षयति, केनचिदिति ।—यत्र—अलङ्कारे, केन-
चित् धर्मेण—स्वाभिप्रायानुरूपीत्वषेविधायकेन गुणक्रियादि-
रूपेणेत्यर्थः, संसिद्धं—सिद्धान्तितम्, अनुकूलप्रमाणादिभिः सर्व-
स्मिन् लोके व्यवहारे च प्रसिद्धिं गतमित्यर्थः, साम्यं—सादृश्यं,
ययोः तथाभूतयोः, द्वयोः,—उपमानोपमेययोः इत्यर्थः,
एकतरस्य—उपमानस्य, उपमेयस्य वा इति भावः, आधिक्यं

उदाहरणम्,—

अस्त्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेव-

पृथ्वीपतेर्मृगपतिश्च समानभावः ।

किन्त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय

सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः ॥ ८५ ॥

अपङ्कृतिमाह,—

नेतदेतदिदं ह्येतदित्यपङ्कवपूर्वकम् ।

उच्यते यत्र सादृश्यादपङ्कृतिरियं यथा ॥ ८६ ॥

भवति—अधिकगुणयोगादुत्कर्षविधानं स्यात्, स व्यतिरेकः उच्यते । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ८४ ॥

उदाहरति, अस्त्विति ।—जयसिंहदेवपृथ्वीपतेः,—राज्ञः जयसिंहदेवस्य, मृगपतेः,—सिंहस्य, च, पौरुषगुणात्—पराक्रमप्रभावादिगुणसमुदाययोगात्, समानभावः,—साम्यम्, अस्तु अस्तु—भवतु भवतु, किन्तु एकतः,—एकस्मात् राज्ञः जयसिंहदेवात् विभ्यतः इति शेषः, प्रतिभटाः,—प्रतिवीराः, समरं—सङ्ग्रामं, विहाय—परित्यज्य, अन्यं—सिंहम्, अशङ्कमानाः,—अगणयन्तः सन्तः, गहनवनप्रवेशावसरे सिंहादपि भीतिमविचारयन्त इत्यर्थः, सद्यः,—तत्क्षणमेव, वनं विशन्ति—वनमध्यस्थ शङ्कितमात्मानं कथञ्चित् विनोदयन्ति इति भावः । अत्र सिंहादपि राज्ञः समरे पौरुषम् अधिकमस्तीति प्रतीयते, इति सिंहादप्यस्य राज्ञः शौर्यातिशयप्रकटनादाधिक्यप्रतीतिः व्यतिरेकः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

अपङ्कृतिं लक्षयति, नेतदिति ।—यत्र—अलङ्कारे, सादृश्यात्—साम्यात्, एतत् एतत् न, एतत् इदं हि—इदम् एव, इति अपङ्कवपूर्वकं—पूर्वोपन्यस्तप्रतिषेधपूर्वकं, प्राक् प्रकृतमेव विषयं सर्व्वथैव निगीर्य्येत्याशयः, यत्, उच्यते—स्वाभिप्रायसिद्ध-

उदाहरणम्,—

नैतद्विशायां शितसूच्यभेद-

सन्धीकृतालोकनसन्धकारम् ।

निशागमप्रस्थितपञ्चवाण-

सेनासमुत्थापित एष रेणुः ॥ ८७ ॥

सर्व विषयं युक्त्या तात्त्विकतया समाधोयते, इयं यथा—तत्त्वन,
अपङ्कतिः ; यद्वा,—अत्रापि यथा इति उदाहरणं निर्देष्टुमेव
निर्दिष्टम् । पथ्यावक्तव्यं वृत्तम् ।

अपङ्कत्यलङ्कारम् उदाहरति, नैतदिति ।—निशागममागम-
समुद्दीपितकामस्य सङ्केतममुत्सुकस्य कस्यचित् कामिन उक्ति-
रियम् । निशायां—रात्रौ, शिता—तीक्ष्णा, सूचो—भेदक
शलाका,तया अभेदं—भेदं अशक्यम्, अतिगाढमन्निविष्टत्वात्
इति भावः, अनन्धम् अन्धं कृतमनेनेति व्युत्पत्त्या अन्धीकृतं—
दृष्टिशक्तिहीनोक्तम्, आलोकनं—दर्शनेन्द्रियं, येन तथाभूतम्,
एवम्—दृष्ट्याद्विप्रतिबन्धकत्वेनानुभूयमानमित्यर्थः, अन्धकारं—
तिमिरं, न भवति इति शेषः ; तर्हि किमतत् ? इत्याह, निशति ।
—एषः,—पुरोवर्ती शितसूच्यभेदवस्तुर्विषय इत्यर्थः, निशायाः,
—रात्रेः, आगमे—प्रारम्भे, प्रस्थितया—सङ्ग्रामार्थं चलितया,
पञ्चवाणस्य—कामस्य, सेनया—सैन्येन, समुत्थापितः,—
समुत्क्षिप्तः, चरणाहत्यादिभिरिति भावः, रेणुः,—धूलिः ; दृष्टि-
विधातकतया तत्त्वेन प्रतीयमानमपि नैतदन्धकारम्, अपि तु
कामसेनाचरणसमुत्थापितो धूलिपटलः, कथमन्यथाऽस्य एवमुद्दी-
पकत्वमिति भावः । अत्र यथाभूतवस्तुनः अन्धकारस्य प्रतिषेधन
युक्त्या अतथाभूतस्यापि प्रकृतोपयोगितया स्वाभिप्रायमिदमस्य
रेणोः स्थापनात् अपङ्कतिः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ८६ । ८७ ॥

तुल्ययोगितामाह,—

उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन योज्यते ।

तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ॥८८॥

उदाहरणम्,—

तमसा लुप्यमानानां लोकेऽस्मिन् साधुवर्त्मनाम् ।

प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तत्र च दृश्यते ॥ ८९ ॥

तुल्ययोगितां लक्षयति, उपमेयमिति ।—यत्र,—अलङ्कारे,
तुल्या—सुसदृशी, उपमानोपमेयगतसाम्येन अविसंवादिनीत्यर्थः,
एककाला—एकस्मिन्नेव काले युगपदनुष्ठीयमाना, उभयशक्त्युप-
वृंहिततया सुसङ्गतेत्यर्थः. या क्रिया—प्रकाशनादिरूपेत्यर्थः
तया, उपमानेन—प्रसिद्धोपमानभूतवस्तुना सह, उपमेयं—
प्राकरणीकमुपवर्णनीयं वस्तु, समीकर्तुं—तुल्यगुणक्रियादिभिः
एकीकर्तुं, योज्यते—अपृथग्भावेनोपन्यस्यते, सा तुल्ययोगिता ।
पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८८ ॥

उदाहरति, तमसेति ।—हे राजन् ! (इति अध्याहार्यम्)
अस्मिन्—इह, लोके—जगति, तमसा—अन्धकारेण, मोहेन
चेत्यर्थः, लुप्यमानानाम्—अदर्शनं नीयमानानां, विलुप्तदर्शना-
नामित्यर्थः, दुर्जनैरनिशं कलुषीकृततया विध्वंसं नीयमानानाञ्चे-
त्यर्थः, साधुवर्त्मनां—शोभनानां पथां, सत्पुरुषानुशीलितसदा-
चारपद्धतीनाञ्चेत्यर्थः, प्रकाशनाय—प्रकटनाय, पुनः संस्थापनाय
चेत्यर्थः, संस्करणायिति यावत्, भानोः,—सूर्यस्य, तत्र च—
भवतश्च, प्रभुता—प्रतापः, सामर्थ्यमित्यर्थः, दृश्यते—लक्ष्यते । अत्र
“दृश्यते” इति दर्शनरूपया वर्तमानकालया एकयैव क्रियया
उपमानभूतस्य सूर्यस्य, उपमेयभूतेन राज्ञा सह तमोऽपमारण-
सन्ध्यागर्गप्रकाशनादिरूपैकक्रियाकारितया सादृश्यं प्रतीयते इति
तुल्ययोगिता । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८९ ॥

उत्प्रेक्षासाह,—

कल्पना काचिदौचित्याद्यवार्थस्य सतीऽन्यथा ।
द्योतिर्तिवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ॥६०॥

उदाहरणम्,—

नभस्तले किञ्चिदिव प्रविष्टा-
श्चकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहाः ।
जगद्भिलित्वा हसतः प्रमोदाद्
दन्ता इव ध्वान्तनिशाचरस्य ॥ ६१ ॥

अवसरप्राप्तमुत्प्रेक्षां लक्षयति, कल्पनेति ।—यत्र—यस्मिन् स्थले, सतः,—विद्यमानस्य, अर्थस्य—वस्तुनः, औचित्यात्—योग्यत्वात्, अन्यथा—अन्यप्रकारा, काचित्—अनिर्दिष्टा, कल्पना—सम्भावना, इवादिभिः,—इव-मन्ये-शङ्केप्रभृतिभिः, (अत्रादिपटलभ्यानि उत्प्रेक्षा द्योतकानि ; यथा,—“मन्ये शङ्के भ्रवं प्रायो नूनम् इत्येवमादयः । उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव-शब्दोऽपि तादृशः ॥”इति) शब्दैः,—पदैः, द्योतिता—व्यञ्जिता, अभिहितेति यावत्, सा उत्प्रेक्षा—तदाख्योऽलङ्कारः, यथा—तत्त्वेन, स्मृता—कथिता ; यदा,—यथा इति उदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

तामेवोत्प्रेक्षामुदाहरति, नभस्तले इति ।—नभस्तले—आकाशे, किञ्चित् इव—ईषन्मात्रमिव, प्रविष्टाः,—उदिताः इत्यर्थः, चन्द्रस्य—निशाकरस्य, रुचिप्ररोहाः,—प्रभाङ्कुराः, जगत्—भुवनं, भिलित्वा—ग्रसित्वा, प्रमोदात्—हर्षात्, हसतः,—हास्यं कुर्वतः, ध्वान्तम्—अन्धकारः एव, निशाचरः,—राक्षसः तस्य, दन्ताः,—दशनाः, इव, शुभ्रत्वसाम्यादिति

अर्थान्तरन्यासमाह,—

उक्तसिद्ध्यर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः ।

कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा ॥८२॥

उदाहरति,—

शोणत्वमक्ष्णाममिताब्जभासां

गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः ।

बभूव पानान्मधुनो बधूना-

मचिन्तनीयो हि सुराऽनुभावः ॥ ८३ ॥

भावः, चकाशिरि—अराजन्त । अत्र सतः अर्थस्य चन्द्रमयूखस्य
दन्तरूपेण कल्पना, सा च इवशब्देन द्योतिता इत्युत्प्रेक्षा ।
उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ८० । ८१ ॥

अवसरप्राप्तमर्थान्तरन्यासं लक्षयति, उक्तेति ।—उक्तस्य—
कथितस्य वस्तुनः, सिद्ध्यर्थं—प्रामाण्यप्रतिपत्त्यर्थं, व्याप्तिपुरः-
सरः,—युक्तिपूर्वकः, सिद्धान्तपूर्वकः वा, यः अन्यस्य—
अपरस्य, अर्थस्य—वस्तुनः, न्यासः,—कथनं, स अर्थान्तरन्यासः,
—तदाख्योऽलङ्कारः, कथ्यते—उच्यते । अस्य द्वैविध्यमाह, श्लिष्ट
इति ।—सः,—उक्तरूपः अर्थान्तरन्यासः, श्लिष्टः,—श्लेषममन्वितः,
अश्लिष्टः,—श्लेषरहितश्चेत्यर्थः, इति द्विधा—द्विप्रकारः, भवतीति
शेषः । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

तत्र श्लेषमूलमर्थान्तरन्यासम् उदाहरति, शोणत्वमिति ।—
बधूनां—नारीणां, मधुनः,—मद्यस्य, पानात्—गलाधःकरणात्,
अमिताब्जभासां—नीलोत्पलच्छवीनाम्, अक्ष्णां—नेत्राणां,
शोणत्वं—रक्तत्वं, तथा गिरां—वाचां, प्रचारः,—प्रयोगः, अपर-
प्रकारः,—अन्यविधः, स्वभावविपरीत इत्यर्थः, बभूव—आसीत् ।
हि—तथा हि, सुराऽनुभावः,—सुरायाः,—आसवस्य, अन्यत्र,—

शुण्डादण्डैः कम्पिताः कुञ्जराणां
पुष्पोत्सर्गं पादपाश्यान् चक्रुः ।
स्तब्धाकाराः किं प्रयच्छन्ति किञ्चित्
क्रान्ता यावन्नोद्धतैर्वीतशङ्कम् ? ॥ ८४ ॥

सुराणां—देवानाञ्चेत्यर्थः, अनुभावः,—प्रभावः, अचिन्तनीयः,
—दुर्विभावणीयः, अतर्कणीय इत्यर्थः, भवति इति शेषः ; देव-
प्रभावेण मदिरामाहात्मेन च सर्वमेव सम्भवतीति भावः । अत्र
“सुराऽनुभावः” इति पदं सन्धिजाकारान्तसुरा-सुरशब्दाभ्यां
श्लेषेण मद्य-देवतारूपार्थद्वयबोधनात् श्लिष्टमिति तन्मूलतया
मद्यपानजनितनयनरक्तिमस्त्ररविकृतिरूपस्य उक्तस्य अयस्य
प्रामाण्यसिद्धयर्थम् “अचिन्तनीयो हि सुराऽनुभावः” इत्यन्यार्थ-
न्यसनात् श्लेषमूलः अर्थान्तरन्यासः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ८३ ॥

अथाश्लिष्टमर्थान्तरन्यासमुदाहरति, शुण्डादण्डैरिति ।—
पादपाः,—तरवः, कुञ्जराणां—हस्तिनां, शुण्डादण्डैः,—स्थूल-
लगुडवङ्गस्वमानकरैः, कम्पिताः,—व्याधूताः, सन्तः, चात्—
मनोज्ञं यथा तथा, पुष्पाणां—कुसुमानाम्, उत्सर्गं—वर्षणं,
चक्रुः,—विदधुः ; तथा हि,—स्तब्धाकाराः,—स्तब्धः,—निश्चेष्टः,
आकारः,—आकृतिः येषां तथोक्ताः, जडा इत्यर्थः, निर्बोधाः
इति यावत्, उद्धतैः,—ष्टैः, प्रगल्भैरिति यावत्, वीतशङ्क—
निर्भयं यथा तथा, यावत्—यत्कालपर्यन्तं, न क्रान्ताः,—
नाभिभूताः, भवन्ति इति शेषः, तावत्—तत्कालपर्यन्तं, किञ्चित्
—किमपि वस्तु, प्रयच्छन्ति ?—ददति किम् ? न प्रयच्छन्तो-
त्यर्थः । अत्र “शुण्डादण्डैः” इत्यादि प्रथमार्द्धोक्तार्थस्य सिद्धयर्थम्
अश्लिष्टार्थकेन उत्तरार्द्धेन अर्थान्तरस्य उपन्यासात् अश्लिष्टः
अर्थान्तरन्यासः । शान्तिनी वृत्तम् ॥ ८४ ॥

समासोक्तिमाह,—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजननक्षमम् ।

सधर्म्मं सा समासोक्तिरन्योक्तिर्वाऽभिधीयते ॥ ८५ ॥

उदाहरणम्,—

मधुकर ! मा कुरु शोकं

विचर करौरद्रुमस्य कुसुमेषु ।

घनतुहिनपातदलिता

कथं नु सा मालती मिलति ? ॥ ८६ ॥

अवसरप्राप्तां समासोक्तिं लक्षयति, उच्यते इति ।—यत्र वक्तुम् इष्टस्य—विवक्षितस्य वस्तुनः, प्रतीतिजननक्षमं—बोधोत्पादनसमर्थं, सधर्म्मं—समानधर्म्मवत्, अन्यत् वस्तु इति शेषः, उच्यते—अभिधीयते, सा समासोक्तिः, अन्योक्तिः वा अलङ्कारः इति शेषः, अभिधीयते—कथ्यते । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

समासोक्तिमुदाहरति, मधुकरेति ।—हे मधुकर !—भ्रमर ! शोकं—शुचं, खेदमित्यर्थः, मा कुरु—न विलपेत्यर्थः ; करौर-द्रुमस्य—करौरनाम्ना प्रसिद्धस्य निष्पत्रकण्टकिवृक्षविशेषस्य, कुसुमेषु—पुष्पेषु, विचर—भ्रमणं कुरु, घनस्य—निविडस्य, तुहिनस्य—हिमस्य, पातेन—पतनेन, दलिता—विनष्टा, सा—त्वया अनुभूतेत्यर्थः, मालती—जातिकुसुमं, नु—भो ! कथं—केन प्रकारेण, मिलति—सङ्गच्छते, पुनः सङ्गता भवतीति यावत् । अत्र हे नायक ! सा तव कान्ता कालहता, ततस्त्वम् इदानीं शोकं विहाय अन्यासु रमस्वेति विवक्षितस्य अन्यार्थस्य प्रतीतये तत्समानधर्म्मस्य भ्रमरमालत्यादिरूपस्यान्यस्य वस्तुनोऽभिधानात् समासोक्तिः । आर्या वृत्तम् ॥ ८६ ॥

चिन्तयति न चूतलतां
याति न जातिं न केतकीं क्रमते ।
कमललताभग्नमना
मधुपयुवा केवलं क्णति ॥ ८७ ॥

विभावनामाह,—

विना कारणसद्भावं यत्र कार्य्यस्य दर्शनम् ।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात् सा विभावना ॥ ८८ ॥

समासोक्तेरुदाहरणान्तरमाह, चिन्तयतीति ।—स्वाभिमत-
यामनुरक्तं विधुरं कश्चित् युवानमन्यनारीनिरपेक्षमालोक्य कस्य-
चिदुक्तिरियम् । कमललतया—पद्मिन्या इत्यर्थः, भग्नम्—आकृ-
ष्टम् इत्यर्थः, मनः,—चिन्तं, यस्य तथाभूतः, मधुपयुवा—तरुण-
भ्रमरः, चूतलताम्—आम्रमुकुलमिति भावः, न चिन्तयति—
स्मरतीत्यर्थः, तथा जातिं—जातिपुष्पं, (“चमेली” इति भाषा)
न याति—न आश्रयति, केतकीञ्च—केतकीकुसुमञ्च, न क्रमते—
न अभियाति इत्यर्थः, केवलं क्णति—रौति । एतेन कस्याञ्चित्
नायिकायां समाकृष्टमनाः कश्चित् युवा नान्यां पश्यति,
केवलं तामप्राप्य रोदिति इति वस्तु प्रतीयते । श्लोकोऽयं
प्रक्षिप्ततया प्रतिभासते, क्वचिदेवास्य उपलभ्यमानत्वात् ।
आर्या वृत्तम् ॥ ८७ ॥

विभावनां लक्षयति, विनेति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे,
कारणसद्भावं—हेतोः सत्तां, विना—अन्तरेण, नैसर्गिकगुणो-
त्कर्षस्य—स्वाभाविकगुणप्रकर्षस्य, भावनात्—उत्पत्तेः, प्रत्याय-
नादिति यावत्, कार्य्यस्य—कर्मणः, दर्शनं—ज्ञानमित्यर्थः,
भवति इति शेषः, सा विभावना, कथ्यते इति शेषः । पथ्यावक्तं
वृत्तम् ॥ ८८ ॥

उदाहरणम्,—

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्वयपरमेश्वराः ।

अनलङ्कारसुभगाः पान्तु युष्मान् जिनेश्वराः ॥ ८८ ॥

दीपकमाह,—

आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसङ्गतिः ।

वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥ १०० ॥

विभावनामुदाहरति, अनध्ययनेति ।—न—नास्ति, अध्ययनं—पठनं येषां तथाभूताः, अध्ययनवर्जिताः, अनधीतविद्याः इत्यर्थः, अथ च विद्वांसः,—ज्ञानवन्तः, पण्डिता इत्यर्थः, निः,—नास्ति, द्वयं—धनं, येषां तथाभूताः, निर्धना इत्यर्थः, अथ च परमेश्वराः,—अतिशयेन ऐश्वर्यशालिनः, न सन्ति अलङ्काराः,—भूषणानि येषां तथाभूताः, निराभरणा इत्यर्थः, अथ च सुभगाः,—सर्वजनप्रियाः, सुदर्शनाः इत्यर्थो वा, जिनेश्वराः,—बौद्धश्रेष्ठाः, युष्मान्—भवतः, पान्तु—रक्षन्तु । अत्र अध्ययनं कारणं, विदित्वं कार्यं, द्वयं कारणम्, ऐश्वर्यं कार्यम्, अलङ्कारः कारणं, सौभाग्यं कार्यं, किन्तु अध्ययनादिरूपतत्तत्कारणासङ्गावेऽपि विदित्वादिरूपतत्तत्कार्यस्य दर्शनं जिनेश्वराणां नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनया युज्यते इति विभावना । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८८ ॥

अथावसरप्राप्तं दीपकं लक्षयति, आदौति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, वाक्यस्य—वाक्यसम्बन्धिना इत्यर्थः, आदिमध्यान्तवर्तिना—आदिस्थितेन मध्यस्थितेन अन्तस्थितेन वा, एकेन—स्वरूपतस्तात्पर्यतो वाऽद्वितौयेनेत्यर्थः, पदार्थेन—वस्तुना, क्रियारूपेण कारकरूपेण वेति भावः, अर्थस्य—अभिधेयस्य, सङ्गतिः,—सङ्गावः, जायेत—भवेत्, तत् दीपकं—दीपकनामा

जगुस्तव दिवि स्वामिन् ! गन्धर्वाः पावनं यशः ।

किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ॥ १०१ ॥

विराजन्ते तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।

विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥ १०२ ॥

अलङ्कारः, यथा—तत्त्वेन, उक्तं—कथितम् ; यद्वा—“यथा” इति उदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

दापकमुदाहरात, जगुरिति—हे स्वामिन् !—प्रभो !, दिवि—स्वर्ग, गन्धर्वाः,—देवयोनिविशेषाः, देवगायनाः इति यावत्, कुलाद्रीणां—कुलाचलानां, हिमाद्रिप्रभृतीनामिति यावत्, कन्दरेषु—गुहासु, किन्नराश्च—किम्पुरुषाश्च, मुहुः,—पुनः पुनः, मुदा—हर्षेण, तव—भवतः, पावनं—पवित्रता-ऽऽपादकं, यशः,—कात्तिं, जगुः,—कीर्तयामासुः । अत्र “जगुः” इति श्लाकादिस्थितम् एकं क्रियापदं “गन्धर्वाः तव यशः जगुः” “किन्नराश्च तव यशः जगुः” इति उभयोः वाक्ययोः अन्वति इति दीपकम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १०० । १०१ ॥

बहूनां क्रियाणां तात्पर्यत एके कारकैकपदयोगे वा दीपकम् उदाहरति, विराजन्ते इति ।—तमिस्राणि—तिमिराणि, विराजन्ते—विजृम्भन्ते, दिवि—आकाशे, तारकाः,—नक्षत्राणि, द्योतन्ते—दाप्यन्ते ; कुमुदश्रेण्यः,—कुमुदानां—कैरवाणां, रात्रिविकासिनां श्वेतोत्पलानामित्यर्थः, श्रेण्यः,—पङ्क्तयः, विभान्ति—शोभन्ते, निशि—रात्रौ, दीपकाः,—आलोकवार्त्तिकाः, शोभन्ते—ज्वलन्ति इत्यर्थः । अत्र आदि-मध्यान्तस्थितानां बहूनामपि क्रियापदानां तात्पर्यतोऽभिधानां “निशि” इति एकेन कारकपदेन अन्विततया सर्ववाक्यसङ्गति-रिति लक्षणसमन्वयः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १०२ ॥

अतिशयोक्तिमाह,—

वस्तूनां वक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते ।

वदन्यतिशयाख्यं तमलङ्कारं बुधा यथा ॥ १०३ ॥

त्वहारितारितरुणीश्वसितानिलेन

सम्भूर्च्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश ! ।

अन्तर्लुठङ्गिरिपरस्परशृङ्गसङ्ग-

घोणारवैर्मुररिपोरपयाति निद्रा ॥ १०४ ॥

अतिशयालङ्कारं लक्षयति, वस्तूनामिति ।—वस्तूनाम्—
अर्थानाम्, उत्कर्ष—श्रेष्ठतां, वक्तुं—प्रतिपादयितुं, यत् असम्भाव्यं
—सम्भवायोग्यम्, उच्यते—कथ्यते, बुधाः,—विद्वांसः, तम् अल-
ङ्कारम् अतिशयाख्यम्—अतिशयनामकं, यथा—तत्त्वेन, वदन्ति
—भाषन्ते ; यद्वा,—“यथा” इत्युदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावक्तं
वृत्तम् ।

अतिशयालङ्कारम् उदाहरति, त्वदिति ।—हे क्षितीश !—
राजन् !, त्वया—भवता, दारिताः,—सङ्ग्रामे निहताः, ये
अरयः,—शत्रवः, तेषां याः तरुण्यः,—कामिन्यः, तामां श्वसिता-
निलेन—निश्वासवायुना, सम्भूर्च्छिताः,—संवर्धिताः, ऊर्मयः,—
कल्लोलाः, येषां तथाविधेषु, महोदधिषु—महासमुद्रेषु, अन्त-
र्लुठन्तः,—तरङ्गवेगेण जलमध्ये इतस्ततः चलन्तः, ये गिरयः,
—पर्वताः, तेषां परस्परस्य—अन्योऽन्यस्य, शृङ्गाणां—शिख-
राणां, सङ्गः,—सङ्घर्षः, आघात इति यावत्, तस्य घोराः,—
विकटाः, आरवाः,—शब्दाः, तैः, मुररिपोः,—विष्णोः, समुद्र-
शायिनः इति भावः, निद्रा—स्वापः, अपयाति—नश्यति ।
अत्र प्रथमं त्वन्निहतारिवधूनां निश्वासितानिलेन समुद्रतरङ्ग-
क्षोभः असम्भवी, ततश्च गिरीणां मिथः शृङ्गघर्षणं, तथा

एकदण्डानि सप्त स्युर्यदि च्छत्राणि पर्वते ।

तदोपमीयते पार्श्वमूर्द्धि सप्तफणः फणी ॥ १०५ ॥

हेतुमाह,—

यत्रोत्पादयतः कञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाशते ।

तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥ १०६ ॥

तज्जनितशब्देन च चौरोदशायिनः भगवतो योगनिद्रामनुभवनः
पुराणपुरुषस्य निद्राभङ्गः नितराम् असम्भवी सन् राज्ञः
प्रतापानिश्चयरूपं वस्तु प्रतिपादयति इति अतिशयालङ्कारः ।
वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १०३ । १०४ ॥

प्रकारान्तरेणातिशयमुदाहरति, एकैति ।—यदि—चेत्,
पर्वते—गिरौ, एकः,—अद्वितीयः, दण्डः,—यष्टिः येषां तथा-
भूतानि, एकयष्टिसङ्गतानि इत्यर्थः, सप्त—सप्तसङ्ख्याकानि,
छत्राणि—आतपत्राणि, स्युः,—भवेयुः, तदा—तर्हि, पार्श्वस्य
—पार्श्वनाथस्य, मूर्द्धि—शिरसि, सप्त फणाः,—भोगाः यस्य
तथाभूतः, फणी—भुजङ्गः, उपमीयते—सदृशोक्रियते । अत्र
पर्वते एकदण्डसप्तच्छत्रासम्भवात् पार्श्वनाथशिरःस्थस्य सप्त-
फणस्य फणिनः सादृश्यसम्भवीत्येवम् असम्भाव्यवर्णनेन तस्य
अत्युत्कर्षप्रत्यायनात् अतिशयालङ्कारः । पथ्यावृत्तं वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अथावसरप्राप्तं हेतुं लक्षयति, यत्रेति । यत्र—यस्मिन्
अलङ्कारे, कञ्चित्—कमपि, अर्थम्—अभिधेयम्, उत्पादयतः,
—रचयतः, कर्तुः,—सम्पादकस्य, तस्य—अर्थस्य, योग्यतायां
—सम्पादनसामर्थ्यं, युक्तिः,—कारणं, न्याय इत्यर्थः, प्रकाशते
—प्रतीयते, सः बुधैः,—पण्डितैः, हेतुः,—हेतुनामा अलङ्कारः
यथा—तत्त्वेन, उक्तः,—कथितः ; “एतस्मात् कारणात् अमौ
जनः कर्मदं सम्पादयितुं योग्यो भवति” इति यत्र कथ्यते, स

जुव्वणसमओम्भत्ता

तत्ता विरहेण कुण्ड गाहस्स ।

कांठब्भंतरघोलिद-

महुरसरं बालिआ गीअम् ॥ १०७ ॥

उदाहरणान्तरम्,—

विससोअरो मिअंको

कअंतआसाइ आअदो पवणो ।

हेतुर्नामालङ्कारः इति समुदितार्थः । “यथा” इति उदाहरण-
निर्देशार्थं वा । पथावक्तं वृत्तम् ।

प्राकृतं काव्ये हेतुम् उदाहरति, जुव्वणेति ।—[“यौवन-
समयोन्मत्ता तप्ता विरहेण करोति नायस्य । कण्ठाभ्यन्तर-
घोलितमधुरस्वरं बालिका गीतम् ॥” इति संस्कृतम्] । यौवन-
समयेन — तारुण्यावस्थया, यौवनोद्गमनेत्यर्थः, उन्मत्ता—
उच्छृङ्खलतां नीता, नायस्य—कान्तस्य, विरहेण—वियोगिन,
तप्ता—अथिता, बालिका—नवोना कामिनी, नववधूरित्यर्थः,
कण्ठाभ्यन्तरे—गलदेशमध्ये एव, घोलितः,—आविष्कृतः,
आन्दोलित इत्यर्थः, न तु लज्जया वह्निः प्रकाशित इति भावः ;
मधुरः,—मदनोद्रेककरुणोद्गारहेतुकतया कोमलः, स्वरः,—
कण्ठध्वनिः यत्र तत् यथा तथा, गीतं—गानं, करोति—विधत्ते,
गायति इत्यर्थः । अत्र बालिकायाः सङ्गीतेन स्वमनोवृत्तिरूपमर्थं
प्रकटयन्त्याः स्वयौवनोद्गेदजन्योन्मत्तता पतिविरहजन्यव्यथा च
गीतोत्पादनयोग्यतया कारणमुपन्यस्तमिति हेतुः अलङ्कारः ।
आर्यावृत्तम् ॥ १०६ । १०७ ॥

उदाहरणान्तरमाह, विसेति ।—[“विषसोदरो मृगाङ्कः
कृतान्ताशया आगतः पवनः । जातपलाशः शिखरी पथि-

जाअपलासो सिहरी

पहिए मारंति ते तिल्लि ॥ १०८ ॥

कान् मारयन्ति ते त्रयः ॥” इति संस्कृतम्] । विषय—काल
कूटस्य, सोदरः,—एकमाटकः, भ्राता इत्यर्थः, एकाधिकरण-
सम्भूत इति यावत्, [अस्य कालकूटेन सह एकोदरसम्भूतत्व-
कथनात् तद्वदतिभीषणत्वं सूचितम्] सृगाङ्कः,—चन्द्रः, द्वयोः
अपि एकसमुद्रोत्पन्नत्वात् इति भावः, तथा कृतान्ताशयाः,—
कृतान्तस्य—यमस्य, आशा—तद्वास्तव्यत्वेन तदधिपतित्वेन वा
उपलक्षिता दिक्, दक्षिणा दिगिति यावत्, तस्याः, आगतः,—
प्रवाहितः, [एतेन सर्वसंहारकशमनसंसर्गादस्यापि संहारकत्वं
सूचितम्] पवनः,—मलयवायुः इत्यर्थः, एवं जातपलाशः,—
जातानि—अचिरोद्गतानि, पलाशानि—पत्राणि यस्य तादृशः,
सञ्जातनवपल्लव इत्यर्थः, शिखरा—तरुः, इति ते—उक्तरूपाः,
त्रयः,—त्रिविधाः पदार्थाः, पयिकान्—अध्वगान्, मारयन्ति—
तापयन्ति इत्यर्थः, सर्वेषामवैतेषां सातिशयकामोद्दीपकत्वादिति
भावः । [अत्र “मारंति ते तिल्लि” इत्यत्र “मारन्ति ते दाणिम्”
इति पाठान्तरे “मारयन्त्येते इदानोम्” इति संस्कृतम्] । अत्र
विषं हि मारकं वस्तु, तत्सोदरस्य चन्द्रस्य अपि तथात्वं युक्तमेव,
कृतान्तस्य च मारकत्वं प्रसिद्धं, तद्दिशातः आगतस्य पवनस्यापि
तद्वन्मवत्वमुचितम् ; जातपलाशः इत्यस्य—जाता—समुत्पन्ना,
पले—मांसे, तद्गच्छे इत्यर्थः, आशा—लालसा, उल्लटेति
भावः यस्य, पलभक्षणविषयिण्यामुल्लटेच्छायां समुदितायां
कदाचित् तद्विनिवृत्त्यर्थं जिघांसिस्य मारणे प्रयत्नः क्रियते इति
दृश्यते, तत्सिद्धौ च तन्मारकत्वमुसङ्गतमेव ; यद्वा,—जातः,—
उत्पन्नः, कृतः इत्यर्थः, पलस्य—मांसस्य, आशः,—अशनं, येन

पर्यायोक्तिमाह,—

अतत्परतया यत्र कल्प्यमानेन वस्तुना ।

विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा ॥ १०६ ॥

त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य महाऽऽहवेषु

द्वेषः प्रभो ! रिपुपुरन्धिजनस्य चासीत् ।

एकः खुरैर्वहलरेशुततिं चकार

तां सञ्जहार पुनरश्रुजलैर्यदन्यः ॥ ११० ॥

इति व्युत्पत्तो गिखरिणोऽपि मासाशितया नारकत्वं सङ्गतमेव,
इति पथिकमारणे यथाक्रमं विषसोदरादिविशेषणत्रयवतां
त्रयाणामिव मृगाङ्गादीनां योग्यताऽस्तीति हेत्वलङ्कारसङ्गति-
बोध्या । आर्या वृत्तम् ॥ १०८ ॥

अथावसरप्राप्तां पर्यायाक्तिमलङ्कारं लक्षयति, अतत्परत-
येति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, अतत्परतया—तदर्थबाधक-
त्वन, कल्प्यमानेन—निर्दिश्यमानेन, कथ्यमानेन इत्यर्थः,
[अत्र “जल्प्यमानेन” इति पाठे वक्ष्यमानेनेत्यर्थः] वस्तुना—
अर्थेन, विवक्षितं—वक्तुमिष्टं वस्तु, प्रतीयेत—बुध्येत, सैयं
पर्यायोक्तिः,—पर्यायोक्तिनामा अलङ्कारः मतेति शेषः । यथेति
पूर्ववदुदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् । पथावक्तं वृत्तम् ।

पर्यायाक्त्यलङ्कारमुदाहरति, त्वदिति ।—हे प्रभो !—
राजन् !—महाऽऽहवेषु—भाषणरणेषु, जायमानेषु सत्सु इति
शेषः, [अत्र भावाधिकरणे सप्तमी, यद्वा,—महाऽऽहवेषु—महा-
ऽऽहवसमये, इति कालाधिकरणे सप्तमी] एव—भवतः, सैन्येषु—
बलेषु, ये वाहाः,—अखाः, तेषां निवहस्य—समूहस्य, रिपूणां
—शत्रूणां, पुरन्धिजनस्य—नारीजनस्य च, द्वेषः,—परस्परं

समं दिनमाह,—

कारणान्तरत्वप्रतिद्वैवादारम्भ एव हि ।

यत् कार्यस्य जायेत तज्ज्ञायेत समाहितम् ॥१११॥

उदाहरणम्,—

मनस्विनो वल्लभवेद्यं गन्तुम्

उत्काण्ठता यावदभृत् निशायाम् ।

तावत् नवान्मोधरधोरनाद-

प्रबोधितः मोर्धाशस्त्री चुकूज ॥ ११२ ॥

वरभावः, अन्याऽन्य क्रियाप्रतिघातः इत्यर्थः, आसीत्—अभवत् ; यत्—यतः कारणात्, एकः,—प्रथमः, अश्वनिवहः इत्यर्थः, खुरैः,—गफैः, खुराघातैरित्यर्थः, बहुलां—प्रभृतां, रेणु-ततिं—धूलिविस्तारं, चकार—विदधे, अन्यः,—अपरः, रिपु-नारोजन इत्यर्थः, पुनः अश्रुजलैः,—पतिशोकजनयननीरैः, तां—रेणुततिं, सञ्चहार—निराचकार । अत्र “राज्ञा बहवः शत्रवः निहता इति विवक्षितोऽर्थः, अतदर्थतया प्रयुक्तेन एत-द्वाक्यप्रतिपाद्येन “राजसैन्याश्चखुरीडूतं रजः निहतरिपुनारी-जनशोकाश्रुणा अपनीतम्” इत्यर्थेन प्रतीयते इति उक्तरूपपर्या-योक्त्यलङ्कारसमन्वयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १०८ । ११० ॥

समाहितमलङ्कारं लक्षयति, कारणेति ।—यत्—यस्मिन् अलङ्कारे, कार्यस्य—कर्मणः, आरम्भे—उपक्रमे एव, देवात्—सहसा, कारणान्तरस्य—हेत्वन्तरस्य, सम्पत्तिः,—समुपस्थितिः, जायेत—भवेत्, तत् समाहितं—समाहितनामालङ्कारः, ज्ञायेत—बुध्येत । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १११ ॥

समाहितालङ्कारम् उदाहरति मनस्विनोति ।—मनस्विनो—अव्यभिमानिनी कान्ता, निशयां—रात्रौ, यावत्—यदा इत्यर्थः, वल्लभस्य—प्रियस्य, वेद्यं—गृहं, गन्तुं—यातुम्, उत्क-

परिवृत्तिमाह,—

परिवर्त्तनमर्थेन सदृशाऽसदृशेन वा ।

जायेतार्थस्य यत्नासौ परिवृत्तिर्यथा मता ॥ ११३ ॥

खिण्णता—उत्सृक्ता, अभूत्—अजनि, तावत्—तदैवेत्यर्थः, सौध-
शिखी—हर्म्याग्रस्थितः मयूरः, नवान्धोधरस्य—नवीनजलधरस्य,
धौरेण—गन्धारेण, नादेन—ध्वनिना, प्रबोधितः,—जागरितः
मन्, चुकूज—रुराव, केकारवं चकार इत्यर्थः । अत्र मानिन्या
मानभङ्गे उत्कण्ठारूपस्य अन्यस्य कारणस्य सत्त्वेऽपि प्रियभवन-
गमनोपक्रमे एव मेघगर्जनेन मयूरनार्दरूपकारणान्तर-
समुपस्थितिरिति समाहितालङ्कारसङ्गतिः । यथा वा,—“मान-
मस्या निराकर्तुं पादयोर्मं पतिष्यतः । उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं
घनगर्जितम् ॥” इति । अत्र मानप्रशमनार्थं पादपतने प्रवृत्तं
नायकम् अकस्मादुद्धृतं घनगर्जितं समाकर्ण्य विभ्यती, तस्य
कामोद्दार्पकत्वेन अन्यत्कखिण्णता वा नायिका प्राकृतमभिमानं
विस्मृत्य स्वयमेव आलिङ्गितवतीति कान्तायाः मानापनयनो-
पायमनुसन्दधतः नायकस्य सुमहदुपकृतं कृतं घनगर्जितेनेति
वेदितव्यम् । उपजातिः वृत्तम् ॥ ११२ ॥

अवसरप्राप्तां परिवृत्तिं नाम अलङ्कारं लक्षयति, परिवर्त्तन-
मिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, सदृशा—समेन, वा—अथवा,
असदृशेन—विषमेण, न्यूनं अधिकेन वा इत्यर्थः, अर्थेन—
वस्तुना, (सह) अथेस्य—वस्तुनः, परिवर्त्तनं—विनिमयः, जायेत
—घटेत, असौ यथा—तत्त्वेन, परिवृत्तिः,—परिवृत्तिनामा-
लङ्कारः, मता—कथिता, यद्वा,—असौ परिवृत्तिः, मता—
उदाहृता ; यथेति उदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् । पथ्यावक्त्रं
वृत्तम् ॥ ११३ ॥

प्रदमासुदाहरति,—

अन्तर्गतव्यालफणामणोनां
प्रभाभिरुद्गामितभृषु भर्त्तः ! ।
स्फुरत्प्रदोपानि गृहाणि मुक्ता
गुहासु शीते त्वदगतिवर्गे ॥ ११४ ॥

द्वितीयासुदाहरति,—

दत्त्वा प्रहारं रिपुपार्थिवानां
जग्राह यः संयात जीवितव्यम् ।

सदृशेन वस्तुना सदृशस्य वस्तुनो विनिमये परिहृत्तिमुदाहरति, अन्तर्गतेति ।—हे भर्त्तः !—स्वामिन् ! तव—भवतः, अरातिवर्गः,—शत्रुगणः, स्फुरन्तः,—दीप्यमानाः, प्रदोपाः—आलाकवर्त्तिकाः येषु तथाभूतानि, गृहाणि—भवनानि, मुक्ता—विहाय, अन्तर्गतानाम्—अभ्यन्तरवर्त्तिनां, व्यालानां—विषधरसर्पाणामित्यर्थः, ये फणामणयः,—भोगस्थरत्नानि, तेषां प्रभाभिः,—मयूखैः, उद्गामिता—राजिता, भूः,—भूमिः, यासु तासु, गुहासु—गिरिकन्दरेषु, शीते—शयितः आस्ते । अत्र फणामणयः प्रदोपानां सदृशाः, गुहाश्च गृहाणां सदृश्याः, इति प्रदोपप्रकाशितानां गृहाणां परित्यागेन फणामणिप्रकाशितानां गुहानाम् उपादानात् सदृशवस्तुर्वानिमयमूला परिहृत्तिनामालङ्कारमङ्गतिः इति । उपजातिः वृत्तम् ॥ ११४ ॥

असदृशेन वस्तुना विनिमयमूलां परिहृत्तिमुदाहरति, दत्त्वेति ।—यः,—नृप इत्यर्थः, संयाति—सङ्ग्रामे, (“—सङ्ग्रामाभ्यागमाहवाः । समुदायः स्त्रियः संयत् समित्याजिसमिदुयुधः ॥” इत्यमरः) रिपुपार्थिवानां—शत्रुनृपतीनां, प्रहारम्—आघातं, दत्त्वा—विधाय, जीवितव्यं—जीवितं, जग्राह—गृहीतवान्, स्वविक्रमेण युधि रिपूनाहत्य तान् हतजीवितान् चकार

शृङ्गारभङ्गीच्च तदङ्गनाना-

मादाय दुःखानि ददौ सदैव ॥ ११५ ॥

यथासङ्गानाह,—

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः ।

क्रमेण तेन बध्यन्ते तद् यथासङ्गमुच्यते ॥ ११६ ॥

उदाहरणम्,—

मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या

चरणकमलमामा चारुणा चाननेन ।

इति भावः, तथा तदङ्गनानां-तेषाम्-आचरितप्रतिबन्धिभावानां नरपतीनाम्, अङ्गनाः,—कान्ताः, तामां, शृङ्गारभङ्गीं—शृङ्गार-रसविलासम् इत्यर्थः, आदाय—स्वयं गृहीत्वा, तामां तादृश-विलासम् अगनीय इति यावत्, सदैव—सर्वदैव, भोग्यानि इति शेषः, दुःखानि—क्लेशान्, ददौ—दत्तवान् ; त्वया हतदयि-तास्ता रिपुवनिताः शृङ्गारविलासं चिराय विहाय केवल दुःखानलतापमनुभवन्ति इति भावः । अत्र प्रहारजीवनयोः निकृष्टोत्कृष्टयोः, शृङ्गारभङ्गीदुःखयोश्च उत्कृष्टनिकृष्टयोः सादृश्यं नास्तीति तादृशयोरमदृशयोर्वस्तुनोः विनिमयप्रदर्शनात् अम-दृशपरिवृत्तिसङ्गतिः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११५ ॥

यथासङ्गमलङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन् प्रयोगे, उक्तानां—वर्णितानां, पदार्थानां—वस्तूनां, सम्बन्धिनः,—सम्बन्धशालिनः, अर्थाः,—वस्तूनि, पुनः,—भूयः, द्वितीया-वर्त्तने इत्यर्थः, तेन क्रमेण—प्रथमोक्तरीत्या इत्यर्थः, बध्यन्ते—बध्यन्ते, विरच्यन्ते इत्यर्थः, तत् यथासङ्गं—यथासङ्गनामा-लङ्कारः, उच्यते—कथ्यते । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ११६ ॥

यथासङ्गमुदाहरति, मृदिति ।—विसानि—सृणुतानि, किसलयः,—नवप्रसूताः, पद्मानि—कमलानि, एतानि मृदु-

विसक्मिमलयपद्मान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये
विरहविषादि वैरात्तन्वते तापमङ्गे ॥ ११७ ॥

विप्रमहाह,—

वस्तुनोर्यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित् ।
असम्भाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा ॥ ११८ ॥

भुजलतिकाभ्यां—कोमलबाहुवस्त्रिभ्यां, शोणिमानं—रक्तत्वं,
दधत्या—धारयन्त्या, चरणकमलभासा—पदपङ्कजकान्त्या, तथा
चारुणा—मनोहरेण, आननन—वदनेन, च आत्ता—गृहीता,
लक्ष्मीः,—श्रीः येषां तथाभूतानि, अत एव, विरहः,—प्रिय-
विच्छेद एव, विषद—विपत्तिः, तस्यां सत्यां, वैरात्—स्वस्व-
लक्ष्मीहरणजनितात् द्वेषात्, अङ्गे—शरीरे, तापं—सन्तापं,
तन्वते—जनयन्ति इत्यर्थः, इति मन्ये—तर्कयामि । विरहिण्याः
नायिकायाः विरहमन्तापनिवृत्तये अङ्गेषु निहितानि विमादौनि
तापं न शमयन्ति, प्रत्युत वर्धयन्ति इति भावः । अत्र भुज-
लता-चरणकमल-आननरूपपदार्थानां सम्बन्धिनः विस-क्मि-
लय-पद्मरूपाः पदार्थाः यथाक्रमं निवृद्धाः इति यथासङ्गम्
अलङ्कारः । मालिनौ वृत्तम् ॥ ११७ ॥

विप्रमालङ्कारं लक्षयति, वस्तुनोरिति ।—यत्र—यस्मिन्
स्थले, वक्ता—कथयिता, काव्यकृदिति यावत्, वस्तुनोः,—द्वयोः
पदायेयोः, सम्बन्धं—संसर्गं, केनचित्—येन केनापि अनिर्दिष्टे-
नत्ययः अनौचित्येन—अन्याय्यत्वेन, असम्भाव्यं—सम्भवायोग्यं,
प्रतीतिविरुद्धमित्यर्थः, वदेत्—ब्रूयात्, तं विषमं—तदाख्याल-
ङ्कारम्, आहुः,—कथयन्ति । यथा इति उदाहरणनिर्देशार्थं
बोध्यम् । पथ्यावक्तां वृत्तम् ।

उदाहरणम्,—

क्वेदं तव वपुर्वत्से ! कदलीगर्भकोमलम् ? ।

क्वायं राजीमति ! क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः ॥ ११८ ॥

सङ्कीर्तिमाह,—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र काव्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकया हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ॥ १२० ॥

विषममुदाहरति, केति।—राजीमतीं नाम कामपि युवतीं तपश्चर्यार्थं कृतोद्योगामवलोक्य जैन-यतीन्द्रस्योक्तिरियम् । हे वत्से !—हे स्नेहास्पदे !, हे राजीमति ! कदलीगर्भकोमलं—रत्नागर्भमृदुलम्, इदं—परिदृश्यमानं, तव—ते, वपुः,—शरीरं, क्व ?—कुत्र ? अयं क्लेशदायी—उपवामादिक्लेशबहुल इत्यर्थः, व्रतपरिग्रहः,—व्रतं—श्रुतिस्मृत्यादिप्रतिपादितः नियमविशेषः, तस्य परिग्रहः,—स्वोकारः, आचरणम् इत्यर्थः, च क्व ?—कुत्र ? “हो कश्चिदो महदन्तरं सूचयतः” इति न्यायात् अतिविमदृश-तया त्वत्तुल्यायाः कोमलाङ्गास्तरुण्या ईदृशकृच्छ्रव्रताचरणं कथमपि न युक्तमिति भावः । अत्र कदलीगर्भकोमलवपुः कठिन-व्रतपरिग्रहश्च एतदुभयोः सम्बन्धस्य अनौचित्येन असम्भव इति विषमालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ११८ । ११८ ॥

सङ्कीर्तिनामालङ्कारं लक्षयति, सहोक्तिरिति ।—यत्र—यस्मिन् कविभाषिते, हेतोः,—कारणस्य, तज्जन्मशक्ततां—तस्य, —कार्यस्य, जन्मनि—उत्पादने, शक्ततां,—सामर्थ्यं, [न चात्र हेतुशब्दस्यैव पूर्वोक्तत्वात् तच्छब्देनापि तस्यैव परामर्शो युज्यते, न तु कार्यस्य, प्रागनिर्देशादिति वाच्यम्, अन्यथा व्याख्यानेन समाधातुं शक्यत्वात् ; तथा हि,—तज्जन्मशक्ततां—तस्मात्—हेतोः, जन्म—उत्पत्तिर्यस्य तत्, तज्जन्म—कार्यमित्यर्थः, तत्र

उदाहरणम्,—

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्द्धं मदेन सङ्ग्रामे ।

सह-विदिषां श्रियामौ कोदण्डं कर्षति श्रीमान् ॥ १२१ ॥

शक्ततां—तज्जननसामर्थ्यमित्यर्थः] वक्तुं—प्रतिपादयितुं, कार्य-
कारणयोः,—साध्यसाधनयोः, सह—युगपत्, समुत्पत्तिकथा,
—समुत्पत्तेः,—जन्मनः, कथा—कथनं, भवेत्—स्यात्, सा
सहोक्तिः,—तन्नामालङ्कारः, भवेत्—स्यादित्यर्थः । [द्वितीयाहं
“समुत्पत्तिः कथाहेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम्” इति पाठान्तरे
तु समुदितश्लोकस्यायमर्थः,—यत्र—यस्मिन् कविभाषिते, कथा-
हेतोः,—कथानायकस्य, तज्जन्मशक्ततां,—तयोः,—कार्य-
कारणयोः, जन्मनि—योगपद्यमस्यादने, शक्तिः,—सामर्थ्यं यस्य
तस्य भावः तत्ता तां, वक्तुं—प्रतिपादयितुं, कार्यकारणयोः,
—फलहेत्वोः, सह—युगपत्, समुत्पत्तिः,—समकालमुद्भवः,
एककालमेव समुद्भवाख्यानमित्यर्थः, सा सहोक्तिः,—तन्नामा-
लङ्कारः इति] अन्ये तु—सह—समं, द्वयोरककालासंभविनीः
इति शेषः, उक्तिः,—अभिधानं यत्रेति अन्वयोऽसंज्ञायाश्चित्य,—
“सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः । सा सहोक्ति-
र्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥” इति लक्षणमाहुः । पथ्यावक्तं
वृत्तम् ॥ १२० ॥

सहोक्तिमुदाहरति, आदत्ते इति ।—श्रीमान्—सुरूपः,
समृद्धिगाली वा, असौ—दृश्यमानः, नृपतिः इति शेषः, सङ्ग्रामे
—युद्धे, विदिषां—प्रतिपक्षाणां शत्रूणामित्यर्थः, यशसा—कीर्त्या,
सह—समं, कोदण्डं—धनुः, आदत्ते—गृह्णाति, मदेन—गर्वेण,
विदिषामिति भावः, सार्द्धं—सहैव, नमयति—सगुणं कर्तुं नतं
करोतीत्यर्थः, कोदण्डम् इति शेषः, श्रिया—लक्ष्म्या, अत्रापि
विदिषामिति योज्यं, सह कर्षति—आकर्षति, अत्रापि कोद-

विराधमाह,—

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः ।

शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥१२२॥

शब्दजितमूढाहरणम्,—

दुर्वारवाणविभवेन सुवर्मीणाऽपि

लोकोत्तरान्वयभुवाऽपि च धीवरेण ।

ण्डम् इति शेषः । कारणकार्ययोर्नियमेन पूर्वापरोभावेण उत्पत्तिः लोके शास्त्रे च प्रसिद्धा ; अत्र तु कोदण्डाकर्षणरूपस्य कारणस्य कार्यजननशक्त्यातिशयं प्रकटयितुं धीशोग्रहण-मदाप-नयन-लक्ष्मीहरणात्मकैः कार्यैः सममेव तस्य उत्पत्तिकथनात् सहोक्त्यलङ्कारमङ्गतिः । आर्या वृत्तम् ॥ १२१ ॥

विराधालङ्कारं लक्षयति, आपाते इति ।—यत्र—यस्मिन्, वाक्ये—पदममुदायविशेषे, आपाते—पठनश्रवणमात्रे इत्यर्थः, हि—एवं, न तु ततः परमिति भावः, शब्दार्थकृतं—शब्दार्थाभ्यां जनितं, विरुद्धत्वं—विराधः, आभाति—आभासते, परं तत्त्वतः, —यायातयेन, वाक्यार्थपर्यालोचनायामिति यावत् न, विरुद्ध-त्वम् आभासते इति शेषः, सः विरोधः,—विरोधनामा अल-ङ्कारः, स्मृतः,—कथितः । यथेति पूर्व्ववदुदाहरणप्रदर्शनार्थं बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

द्विविधविरोधयोरादौ शब्दकृतविरोधम् उदाहरति, दुर्वार-रेति ।—विष्णुः,—कृष्णः, [“जिष्णुः” इति पाठान्तरे—जयशीलः श्रोतृकृष्ण इत्यर्थः] प्रत्यर्थिषु—शत्रुसैन्येषु, प्रतिरणं—प्रतिसङ्ग्रामं, खल्वन्तिषु—पराजितेषु सत्सु, संज्ञां—चैतन्यम्, अवाप्य—प्राप्य, स्वसैन्यभङ्गं दृष्ट्वा अतिक्रुद्धस्य जरामन्यस्य वाण-प्रहारजनितमूर्च्छातः इति भावः, सुवर्मीणाऽपि—दृढकवचे-

प्रत्यर्थिषु प्रतिरणं खलितेषु तेन

संज्ञामवाप्य युयुधे पुनरेव विष्णुः ॥ १२३ ॥

नामि, दुर्वारः,—वारयितुम् अशक्य, वाणविभवः,—शरवपणा-
तिशयं यस्य तेन, लोकोत्तरः,—अलौकिकः, अतिप्रशस्त
इयम्, अचयः,—वंशः, तस्मात् भवति इति तथोक्तेन
अपि, [पुरा वृद्धद्वयो नाम नृपतिः शिवमाराध्य तत्प्रसा-
देन द्वयोः पत्राः एव एकं पुत्रं शिवांशमभृतं लेभे ।
स च राजपत्न्याभ्याम् अर्द्धशः प्रसूतः शवरूपः एवाभवत् ।
तद्वत्तत्त्व तत् शवरूपद्वयं ताभ्यां श्मशानं प्रक्षिप्तम् ।
अयं श्मशानवासिनी जरा नाम राक्षसो तत् खण्डद्वयं
योजयामास । ततश्चासौ सद्यः सजीवो जातः, दत्तश्च
तया जरया तत्पित्रे । तस्मात् अस्मी जरासन्ध इति
संज्ञामवापिति तदन्वयस्य लोकोत्तरत्वम् इति बोध्यम्] धीव-
रेण—बुद्धिश्रेष्ठेन, तेन—जरासन्धेन, पुनरेव—पुनरपि, युयुधे
—युद्धं चकार । अत्र सुवर्म्मणाऽपि दुर्वारवाणविभवेन “दुष्टः,—
मन्दः, वारवाणस्य—वर्ष्मणः, विभवः,—प्रभावः, यस्य तथा-
भृतेन” इति, एवञ्च यः दुर्वारवाणः वर्त्तते, स कथं सुवर्म्मा? तथा
लोकोत्तरान्वयभुवाऽपि धीवरेण “कैवर्त्तं दामर्धावरी” इत्यम-
रौक्त्या मस्यजीविजातिभेदेन इत्यर्थः, प्रतीयते, एवञ्च यः
लोकोत्तरान्वयभूः (प्रशस्तकुलसम्भूतः) स कथं धीवरः? इति
च आपाततः शब्दश्रवणमात्रेण विरुद्धतया प्रतीयते इति
विरोधः ; परिहारस्तु व्याख्यात एवेति बाध्यम्, इति शब्दकृतः
विराडाक्षरः । इह अनुचितार्थोऽपि जुगुप्साव्यञ्जकतया
अश्लीलाऽपि वा उपात्तो धीवरशब्दः श्लेषमहिम्ना युज्यते ।
वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

अर्थकृतमुदाहरणम्,—

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूभृच्छिरांसि विनतानि ।
क्षिता युधि शरपङ्क्तिः कौर्त्तिर्याता दिगन्तेषु ॥ १२४ ॥

अवसरमाह,—

यत्रायान्तरमुत्कुष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।
प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥ १२५ ॥

अर्थविरोधम् उदाहरति, येनिति ।—येन राज्ञा इत्यर्थः, सिंहासन—श्रेष्ठासन, राजासनमिति यावत्, आक्रान्तम्—अधिष्ठितम्, तथा अरिभूभृतां—शत्रुनृपाणां, शिरांसि—मस्तकानि, विनतानि—अवनतिं गतानि, तेषां पराजयकरणादिति भावः, युधि—युद्धे च, शरपङ्क्तिः,—बाणपरम्परा, अनेकशः शस्त्रवृष्टिरिति यावत्, क्षिता—पातिता, प्रहृतित्यर्थः, तस्य पुनः कौर्त्तिः,—यशः, सिंहासनाधिरोहणादिजनित इति भावः, दिगन्तेषु—चतुर्दिक्षु इति भावः, याता—गता, दिगन्तव्याप्तेति भावः । यत् आक्रान्तं भवति तदेव अवनतं भवति, इति दृश्यते, अत्र तु सिंहासनस्य आक्रमणम् इति तस्यैव नमनम् उचितं, किन्तु तदुपरोक्षेन शत्रुशिरोनमनमुक्तम् इति, तथा यद् वस्तु क्षिप्यते तदेव अन्यत्र याति, अत्र तु शरक्षेपे शराणामेव दिगन्तगमनम् उचितं, किन्तु तदुपरोक्षेन कौर्त्तेः दिगन्तगमनमुक्तम् इति च अर्थपर्यालोचनया आपाततः विरुद्धम् आभाति इति अर्थविरोधः । परिहारस्तु पराक्रमातिशयशालिनः शासनाधिकारे शत्रूणां भग्नोत्साहतया शिरोनमनं, शराणां क्षेपे जायमाने पुनः प्राणत्राणार्थिभिः शत्रुभिः दिगन्तसमाश्रयणं कृतं, तैः समं कौर्त्तिर्दिगन्ते व्याप्तित्यर्थसिद्धम् । आर्या वृत्तम् ॥ १२२—१२४ ॥

अवसरालङ्कारं सूचयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन् स्थले,

उदाहरति,—

स एष निश्चितानन्दः स्वच्छन्दतमविक्रमः ।

येन नक्तञ्चरः सोऽपि युद्धे वर्वरको जितः ॥१२६॥

प्रस्तुतार्थव्य—प्रकृतार्थस्य, उत्कृष्टं—प्रसिद्धम्, असाधारण-
मित्यर्थः, अर्थान्तरम्—अर्थविशेषः, उपलक्षणं—दृष्टान्तविधया
सङ्क्षेपेण बोधकमित्यर्थः, सम्भवति—सम्भाव्यते, सः बुधैः,—
षण्डितैः, अवसरः,—अवसरनामालङ्कारः, प्रोक्तः,—कथितः ।
यथेति उदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् ।

अवसरालङ्कारमुदाहरति, स एष इति ।—येन—राज्ञा
इति यावत्, सः,—दुर्जयत्वेनातिप्रसिद्ध इत्यर्थः, वर्वरकः,—
तन्नामा काश्चित्, नक्तञ्चरः,—राक्षसः, अपि युद्धे—आह्वे,
जितः,—पराभूतः, निहत इत्यर्थः, निश्चितः,—अमन्दिग्धः,
जयप्राप्तेरवश्यम्भावादिति भावः, आनन्दः,—आमोदः, जय-
जनितः आह्लाद इति यावत्, यस्य तादृशः, अतिशयपरा-
क्रान्तनिशाचरघातकतया यः न कदाचित् परिभूयते इति
भावः, [इह “निश्चितानन्दः” इत्यत्र “निश्चयानन्दः” इति
पाठे—निश्चयेन—जयलाभस्यावश्यभावेन, आनन्दः,—आह्लादः
यस्य तादृश इत्यर्थः] स्वच्छन्दतमः,—स्वाधीनतमः, अति-
शयेन स्वतन्त्र इति यावत्, विक्रमः,—पराक्रमः, यस्य स
तथोक्तः, सः एषः,—दृश्यमानः, राजा जयति इति शेषः ।
अत्र अलौकिकपराक्रमशालिनः राज्ञः प्रसिद्धं जयलक्षणं
प्रस्तुतं, तदर्थं महाशक्तिशालिनक्तञ्चर-वर्वरकनिधनरूप-
मुत्कृष्टमर्थान्तरं दृष्टान्ततया सङ्क्षेपतो विशेषितमिति अव-
सरालङ्कारमङ्गतिः । यद्यपि काव्यप्रकाशकारादिभिरयमलङ्कारी
नाङ्गाङ्गतः, तथाऽपि चित्रमीमांसाकारेण तत्तन्मतमपाकृत्य

सारमाह,—

यत्र निर्धारितात् सारात् सारं सारं ततस्ततः ।

निर्द्धार्यते यथाशक्ति तत् सारमिति कथ्यते ॥ १२७ ॥

उदाहरणम्,—

संसारं मानुष्यं सारं मानुष्यके तु कौलीन्यम् ।

कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ॥ १२८ ॥

स्फुटमय समादृतः इत्यस्माभिरप्याद्रियते ; तथा हि चित्र-
मीमांसा,—“दृष्टान्तत्वेन यत्रार्थः प्रस्तुतोऽवसरस्तु सः” इति ।
पथ्यावक्तव्यत्तम् ॥ १२५।१२६ ॥

अवसरप्राप्तं सारालङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन्
अलङ्कारे, ततः ततः,—तस्मात् तस्मात्, निर्धारितात्—विविच्य
निरूपितात्, सारात्—उत्कृष्टात् वस्तुन इत्यर्थः, सारं सारम्
—अत्युपादेयमंशमिति यावत् ; यद्वा,—यत्र, ततः,—तस्मात्,
निर्धारितात्—निरूपितात्, सारात्—उत्कृष्टाद् वस्तुनः, सारम्
—उत्कृष्टतरं, वस्तु अस्ति इति शेषः, एवं ततः,—तस्मात्,
उत्कृष्टतरादपि इत्यर्थः, सारं, यथाशक्ति—सामर्थ्यानुरूपं, स्व-
प्रतिभानुसारमिति यावत्, निर्द्धार्यते—निरूप्यते, तत् सारं
—सारनामाऽलङ्कारः, इति कथ्यते—उच्यते ॥ १२७ ॥

सारालङ्कारमुदाहरति, संसारे इति ।—संसारे—जगति,
स्वादृष्टोपनिबद्धदेहपरिग्रहे, प्राणिजन्मनि इत्यर्थो वा,
(प्राण्युत्पादे संसरणम्” इत्यमरः) मानुष्यं—मानवत्वं, मनुष्यस्य
पशुप्रभृतितो भेदानुमापको धर्म इति यावत्, सारम्—उत्कृष्टं,
मानुष्यके—मानवत्वेऽपीत्यर्थः, कौलीन्यं—कुलोन्नाता, सत्कुल-
प्रसूतत्वमित्यर्थः, सारम् इति सर्वत्र अन्वेति, कौलीन्ये—सद्-
वंशोद्भूतत्वे, धर्मित्वं—धर्मशीलत्व, धर्माचरणपरायणत्वमित्यर्थः,
तथा, धर्मित्वे—धर्मपरायणत्वे चापि, सदयत्वं—सकृपत्वं,

द्विपमात्र,—

पदैस्तरैश्च भिन्नैर्वा वाक्यं वक्तव्यकमेव हि ।

अनेकमयं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥ १२८ ॥

उदाहरणम्,—

आनन्दमुल्लासयतः सज्जन्तात्

करैरसन्तापकरैः प्रजानाम् ।

दयालुत्वमित्यर्थः ; दुःखमङ्गलैः प्रतिगहनंऽप्यस्मिन् संसारं सर्वं
सारनिदानतया मनुष्यत्वमेव स्पृहणीयं, नीचकुलमश्वे तदपि
न कचिकरमिति तत्रापि कीर्त्तन्यं स्पृहणीयं, तदपि चेत्
असाधारण्यवस्थापकवर्मानुप्राणितं स्यात्, तदेव शोभाति-
शयमावहेदिति तत्रापि धर्म एव स्पृहणीयः, धर्मेष्वपि दया-
धर्म एव काम्य इति तत्रापि दयालुत्वमेव अग्रगण्यमिति समु-
दितायै । अत्र यथापूर्वं निर्धारितात् मनुष्यत्वादेः सारात्
उत्तरीतरं कीर्त्तन्यादेः सारत्वं निर्णीयते इति सारालङ्कार-
सङ्गतिः । आख्यां वृत्तम् ॥ १२८ ॥

अवसरप्राप्त श्लेषालङ्कारं लक्षयति, पदैरिति ।—यत्र—
यस्मिन्नलङ्कारे, एकम्—अभिन्नम्, एव वाक्यं—पदकदम्बात्मकं
वचनमित्यर्थः, तैः एव—अभिन्नताप्राप्तैरेव, संहिता-महिम्ना
रूपान्तरेणापरिणतैः सङ्गिरेवेति यावत्, भिन्नैः वा—भिन्न-
रूपतां प्राप्तैः वा, संहिता-महिम्ना रूपान्तरं गतेरिति यावत्,
पदैः,—सुप्-तिङन्तशब्दैः, अनेकं—बहु, अर्थम्—अभिधेयं,
वक्ति—अभिधेया प्रतिपादयति, असौ—उक्तरूपः, श्लेषः,—
श्लेषनामालङ्कारः, इति उच्यते—कोर्त्तयते । यथा इति उदा-
हरणनिर्देशार्थकमव्ययं बोध्यम् ॥ १२८ ॥

तस्मादो अभिन्नैरेव पदैः श्लेषम् उदाहरति, आनन्दमिति ।

यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो

जग्राह विलां किल सिन्धुनाथः ॥ १३० ॥

कुर्वन् कुवलयोज्जासं रस्याब्धोजश्चिथं हरन् ।

रेजे राजाऽपि तच्चित्तं निशान्ते कान्तिमत्तया ॥ १३१ ॥

—सिन्धुनाथः,—सिन्धो,—सिन्धुदेशस्थ, तथा सिन्धूना—
नदीनां, (“देशे नदविशेषेऽर्थे सिन्धुर्नामरिति स्त्रियाम्” इत्य-
मरः) नाथः,—अधीश्वरः, पतिश्च, सिन्धुराजः समुद्रश्चेत्यर्थः,
रामन्तात्—परितः, सर्वप्रकारैरित्यर्थः, असन्तापकरैः,—
अक्लेशमाधकैः, पक्षे,—उत्तापाजनकैः सन्तापनिवर्तकैरित्यर्थः,
कैः,—बलिभिः, राजग्राह्यभागैरित्यर्थः, पक्षे—किरकैः, (“बलि-
हन्तांशवः कराः” इत्यमरः) प्रजानां—जनानां, प्रकृतिवर्गा-
णामित्यर्थः, अन्यत्र साधारणजनानामित्यर्थः, आनन्दं—हर्षम्,
उन्नामयतः,—उत्पादयतः, [इह उत्पूर्वस्य लासयतरानन्दजन-
कत्वार्थकत्वेऽपि पुनः कर्मस्वरूपस्य आनन्दमित्यस्य पृथगुपा-
दानात् गानं गायतीत्यादिवत् धातोः उत्पादकत्वमात्रमर्थः
बोध्यः] यस्य राज्ञः,—नृपतेः, पक्षे—चन्द्रस्य, (“राजा प्रभौ
च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ” इति मेदिनी) उदये—उन्नतौ,
पक्षे—अभ्यङ्गमे इत्यर्थः, क्षोभं—पराभवं, पक्षे—खट्वद्विजन्य-
चापन्यम्, अवाप्य—प्राप्य, विलां—कालं, पक्षे—तटभूमिं,
 (“वेला काले च सीमायामब्धेः कूलविकारयोः” इति मेदिनी)
जग्राह—अथमपि अतिवाहयामासेत्यर्थः, पक्षे—आश्लिष्टवानि-
त्यर्थः; किलेति प्रसिद्धौ । अत्र एकस्यैव वाक्यस्य अभिन्नैरेव
तत्तत्पदैः नृपति-समुद्रयोर्वर्णनेन अनेकार्थकत्वमिति श्लेष-
सङ्गतिः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ।

भिन्नपदैः श्लेषम् उदाहरति, कुर्वन्निति ।—राजा—कश्चित्

सप्तमः सर्गः ।

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकीया निवन्धनम् ।

अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति मनुचयम् ॥ १३० ॥

नृपतिः, पत्ने—चन्द्रः, अपि निशान्ते—गृहे, पत्ने—निशायाः,—
 रजन्याः, अन्ते—अवसाने, प्रभाति इत्यर्थः, (“निशान्तस्त्रिषु
 गान्ते स्यात् क्लोवन्तु भवनापनोः” इति मेदिनी) कुः,—पृथ्वी,
 “गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी” इत्यमरः । तस्याः वलयन्—मण्ड-
 लस्य, भूमण्डलस्य इत्यर्थः, तद्वाहिनी जनसमूहस्येति यावत्,
 उन्नामम्—अभ्युदयन्, आनन्दमिति यावत् अन्यत्र,—कुवलय-
 नाम्—उत्पलानाम्, उन्नामं—विकसनमित्यर्थः, कुवन्—जन-
 यन्, काष्णिमत्तया—सुरूपतया, पत्ने—द्युतिविशिष्टतया,
 रस्यां—जनोद्धारिणीं, भोजन्य—तदाख्यनरपतेः, श्रियं—लक्ष्मीं,
 मोन्दयमित्यर्थः, अन्यत्र,—रस्याणां—मनोज्ञानाम्, अभोजानां
 —जलजानां, पद्मानामित्यर्थः, श्रियं—शोभां, हरन्—मुष्णन्,
 अधरीकुर्वन् इति यावत्, रेजे—शुशुभे, तत् चित्रम्—आश्चर्यम् ।
 अत्र कुवलयोन्नामम् इति राजपक्षे—कुः,—पृथ्वी तस्या वलयं,
 चन्द्रपत्ने—कुवलयानि—उत्पलानि इति, तथा रस्याभोजश्रियम्
 इति राजपक्षे—रस्यां भोजश्रियं, चन्द्रपक्षे—रस्याम् अभोज-
 श्रियम् इति, तथा निशान्ते इति राजपक्षे—निशान्ते—गृहे,
 चन्द्रपक्षे—निशायाः अन्ते—अवसाने, इति भिन्नानि पदानि ।
 तदेवं भिन्नैः पदैरनेकार्थस्य प्रतिपादनम् इति भिन्नपदैः
 शेषमङ्गतिः । अयञ्च सभङ्गशेषो विरोधालिङ्गित इति बोध्यम् ।
 पथावक्तं वृत्तम् ॥ १३०—१३१ ॥

अथावसरप्राप्तं समुद्रयालङ्कारं लक्षयति, एकत्रेति ।—यत्र
 —यस्मिन् अलङ्कारे, एकत्र—एकस्मिन् पद्ये गद्ये वेत्यर्थः, अने-

आद्योदाहरणम्,—

अणहिल्लपाटलं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।

आकलशनामधेयः करो च जगतीह रत्नानि ॥ १३३ ॥

द्वितीयोदाहरणम्,—

ग्रामे वासो जायको निर्विवेकः

काटिल्यानामकपात्रं कलत्रम् ।

केषां—बहूनाम्, अत्युत्कृष्टापकृतानाम्—अत्युत्कृष्टानाम्—
अयमादेयानाम्, अयमकृतानां—अतिनिकृतानाञ्च, वस्तूनाम्
—पदार्थानां, निबन्धनं—रचनं, भवेदिति शेषः, तं—तादृशं,
समुच्चय—समुच्चयतामानमलङ्कारमित्यर्थः, वदन्ति—कथ-
यन्ति ; अत्युत्तमान्यव्यवसानि च वस्तूनि एकत्र यत्र समुच्चय
प्रतिपाद्यन्ते, स समुच्चयो नामालङ्कार इति पर्यवसितार्थः ।
तथा चाक्षं रत्नगङ्गाधरकृता पण्डितराजिन,—“वस्तून्वनेक-
रूपाणि समुच्चायोदितानि चेत् । स स्यात् समुच्चयो नाम
गदितः काव्यवित्तमैः ॥” इति ॥ १३२ ॥

एकत्र उत्कृष्टवस्तुनिबन्धनकृतं समुच्चयम् उदाहरति,
अणेति ।—अणहिल्लपाटल—तदाख्यं, पुरं—नगरं, तथा कर्ण-
देवनृपसूनुः,—कर्णदेवाख्यराजेन्द्रस्य पुत्रः, जयसिंहनामा इत्या-
शयः, अवनिपतिः,—राजा, एवं आकलशनामधेयः,—श्रीकल-
शाख्यः, करो—हस्तौ, च एते इह—अस्मिन्, जगति—भुवने,
रत्नानि—रत्नभूता इति भावः । अत्र उत्कृष्टानां बहूनामेकत्र
निबन्धनम् इति प्रथमसमुच्चयसङ्गतिः । आय्यो कन्दः ॥ १३३ ॥

एकत्र अपकृष्टवस्तुनिबन्धनकृतं समुच्चयम् उदाहरति, ग्रामे
इति ।—ग्रामे—कुस्मिते जननिवासे, यत्र किमपि प्रयोजनीयं
सुखसाधनं वस्तु न लभ्यते, तथाविधे देशे इति यावत्, वासः,
—स्थितिः, तथा निर्विवेकः,—सदसद्विचारपरिमूढः, मूर्खः

नित्यं रोगः पारवश्यञ्च पुंसा-

मेतत्सर्वं जीवतामेव सृत्युः ॥ १३४ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसाह—

प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।

अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा ॥ १३५ ॥

इत्यर्थः, नायकः,—अधिपतिः, एवं कौटिल्यानां—कौश्याणाम्,
एकम्—अद्वितीयं, पात्रम्—आस्यटं, कलत्रं—पत्नी, तथा नित्यं
—सततं, रोगः,—दोषा, तथा पारवश्यञ्च—पराधीनता च,
एतत्—पृथ्वीतिरूपं, सर्वं—सकलं, जीवतां—प्राणान् धार-
यतामपि इत्यर्थः, पुंसां—मानवानां, सृत्युरेव—मरणमेव, एता
दृशानां जनानां जीवनमपि मरणतुल्यम् इत्यर्थः । अत्र वृद्धनाम्
अपकृष्टानामेव एकत्र निवन्धनम् इति द्वितीयसमुच्चयसङ्गतिः ।
मालिना वृत्तं—“मात्तो गो चेच्छालिनो वेदलोकैः” इति
तत्तत्तत्तत्तत् ॥ १३४ ॥

अथावसरप्राप्तामप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति, प्रशंसति ।—यत्र
—यस्मिन् अलङ्कारे, अप्रस्तुतस्य अपि—अप्रकृतस्य अपि,
वस्तुनः,—पदार्थस्य, प्रशंसा—स्तुतिः, सोत्कर्षवर्णेनमि-
त्यर्थः, प्रस्तुतस्य प्रशंसार्थमिति भावः, क्रियते,—विधीयते,
कृतधियः,—पण्डिताः, तां—तादृशमित्यर्थः, [तामिति विधेय-
प्राधान्ये ज्ञात्वम्, अन्यथा पुल्लिङ्ग्यच्छब्दवाच्यपरामर्शकतया
पुंस्त्वस्यैव उचितत्वात्] अप्रस्तुतप्रशंसां,—अप्रस्तुतप्रशंसास्य-
मलङ्कार, यथा—तत्त्वेनैत्यर्थः, आहुः,—कथयन्ति । तथा चोक्तं
वृत्तिवार्तिककारैः,—“प्रस्तुतस्य प्रशंसायै यत्राप्रस्तुतप्रशंसनम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा” इति । अथवा—यथेति उदाहरणप्रदर्श-
नार्थं बोध्यम् ॥ १३५ ॥

उटाहरति,—

स्वैरं विहरति स्वैरं श्रुते स्वैरञ्च जल्पति ।

भिक्षुरेकः सुखी लोके राजचोरभयोऽभिमतः॥१३६॥

एकावलीमाह,—

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यानिष्ठानामुत्तरात्तरम् ।

अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता ॥१३७॥

उटाहरति, स्वैरिति ।—लोके—जगति, एकः,—केवलः, भिक्षुः,—सन्ध्यासी, अकिञ्चनः वा, राज्ञः,—अपराधिनः दण्ड-विधायकात् नृपतेरित्यर्थः, चौरात्—तस्कराच्च, यद् भयं—त्रासः, तेन उज्झितः,—परित्यक्तः, सन्ध्यासी दरिद्रो वा कास्मिन्नपि विषयकर्मणि अलिप्ततया अपराधाऽसम्भवात् न कदाचिन्नृपतेर्विभेति, न वा ऐश्वर्यसम्बन्धविरहात् तस्करात् तल्पति इति भावः, अत्र एव सुखी—निःशङ्कतया मानन्दः सन्, स्वैरं—स्वच्छन्दः, यथेच्छ यथा त्यात् तथेत्यर्थः, विहरति—विचरति, स्वैरं—स्वच्छन्दः, श्रुते—निद्राति, स्वैरं—स्वाभिप्रायानुरूपं, यदा इच्छति तदैव इत्यर्थः, जल्पति—कथयति च, स्वातन्त्र्यस्यैव सर्वसुखसाधनतया ससार्थपेक्षया निष्किञ्चनो भिक्षुरेवास्मिन् संसारे सुखीति भावः । अत्र “अशेषक्लेशोपहताः राजतस्करादपद्रुताः सर्वथा अस्वतन्त्राः संसारिण एव दुःखिनः” इति प्रस्तुतेऽर्थे वक्तव्ये “भिक्षुरेव एको निरुपद्रवतया सुखी” इत्यप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रशंसनमिति अप्रस्तुतप्रशंसाङ्कारसङ्गीतः । पठ्यावक्तव्यं ॥ १३६ ॥

अथावसरप्राप्तम् एकावलीं लज्जयति, पूर्वति ।—पूर्वपूर्वार्थानां—पूर्वं पूर्वं निर्दिष्टानां वस्तूनां, वैशिष्ट्ये—विशिष्टत्वे, उत्कृष्टत्वे इति यावत्, निष्ठा—निश्चितरूपेण स्थितिर्यत्र तयो-

उद हरणम्,—

देशः समृद्धनगरो नगराणि च समभूमिनिलयाणि ।

निलयाः ललललललललललनाद्यात्यन्तशमनोयाः ॥ १३८ ॥

ज्ञानां, यथापृथ्वम् उत्कृष्टनाम्नचकतया स्थितानामित्यर्थः, अर्थानां—वस्तुनाम्, उत्तरोत्तरं परं परं, या विरचना --विगिष्टनया रचला, शोभनो विन्यास इत्यर्थः, सा वृधैः,—विद्वद्भिः, एकावली—एकावलीनामालङ्कृतिः, मता— कथिता ॥ १३७ ॥

एकावलानुदाहरति, देश इति ।—देशः,—कुरुपाञ्चालादिनाम्ना प्रसिद्धां जनपद इत्यर्थः, समृद्धानि—सम्पन्नानि, नगराणि—“पुण्यक्रियाऽऽदिनिपुणैश्चातुर्वर्ष्यजनैर्युतम् । अनेकजातिमखड्गं नैकगिल्पिममाकुलम् ॥ सर्वदेवतमखड्गं नगरं त्वभिधायते ॥” इत्युक्ताः पुरमेढा इत्यर्थः, यस्मिन् तथाभूतः, श्रेष्ठ इति शेषः, नगराणि च—तथाविधानि पुराणि च, समभूमयः,—“कोशस्थानं गर्भगृहं कलिशैली महानमम् । ...इत्येतं समं भूभागं यत्र तत्र वसद्गृही ॥” इति काव्यालङ्कारोक्ताः समं भूभागविशेषा इत्याशयः, ताभिः उपलक्षिताः, निलयाः,—आवासगृहाणि, येषु तथोक्तानि, नगराणि तथाविधानि चेत्, तदा उत्कृष्टानि भवन्ति इत्यर्थः ; यद्वा—समं—समतलरूपाः इत्यर्थः, भूमयः,—स्थानानि, गृहरूपार्णांति यावत्, (“भूमिर्वसुन्धरायां स्यात् स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम्” इति मेदिना) ता एव, निलयाः,—आवासगृहाणि येषु तथाविधानि, श्रेष्ठानीति शेषः, निलयाः,—गृहाणि च, लीला—“अद्वैतेशैरलङ्कारैः प्रेमभिर्वचनैरपि । प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ॥” इत्युक्तलक्षणा रमणीजनमात्स्विकालङ्कारविशेषः, तथा सह वर्तमानाः, संविलासाः इत्यर्थः, ललनाः,—

अनुमानमाह,—

प्रत्यक्षालिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्त्तिनः ।

लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ॥१३६॥

अतीतानुमानीदाहरणम्,—

नूनं नद्यस्तदाभूवन्नभिषेकाश्चसा प्रभोः ।

अन्यथा कथमेतासु जनः स्नानेन शुध्यति ? ॥ १४० ॥

रमण्यः, येषु तथाभूताः, श्रेष्ठा इति शेषः, ललनाश्च—रमण्यश्च, अत्यन्तकमनीयाः,—सातिशयकान्तिमत्तया अतीव रम्याः । अत्र पूर्वपूर्वोक्तानां देश-नगर-निलय-ललनारूपाणामर्थानाम् उक्तप्रसूचनायम् उत्तरोत्तरं सशृङ्गनगर-सप्तभूमिनिलय-सलील-ललन-अत्यन्तकमनीयशब्दानामुपन्यासात् एकावल्यलङ्कार-सङ्गतिः । आर्या वृत्तम् ॥ १३८ ॥

अथावसरप्राप्तमनुमानं लक्षयति, प्रत्यक्षादिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, प्रत्यक्षात्—साक्षात् परिदृश्यमानात्, लिङ्गतः,—विज्ञात्, साधनादिति यावत्, कालत्रितयवर्त्तिनः,—अतीतानागतवर्त्तमानरूपकालत्रयसम्बन्धवतः, लिङ्गिनः,—अनुमेयस्य वस्तुनः, साध्यस्येति यावत्, ज्ञानं—प्रत्ययः,—भवति—जायते, तत् अनुमानं—तन्नामालङ्कारः, उच्यते—कथ्यते ॥ १३८ ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् अतीतसाध्यज्ञानरूपमनुमानमुदाहरति, नूनमिति ।—नूनं—निश्चितं, निःसंशयमित्यर्थः, तदा—तस्मिन् काले, अभिषेककाले इत्यर्थः, प्रभोः,—बुद्धदेवस्य, कस्यचित् नृपतेर्वा, अभिषेकाश्चसा—अभिषेकसाधनजलेन, नद्यः,—सरितः, अभूवन्—आसन्, अजायन्त इत्यर्थः ; अन्यथा—अन्यप्रकारे सति, नो चेदेवं तर्हीत्यर्थः, जनः,—लोकः,

अनगतानुमानादाहरणम्,—

जम्भभित्ककुभि ज्योतिर्यथा शुभ्रं विजृम्भते ।

उदेष्यंति तथा मन्ये खलः सखि ! निशाकरः ॥ १४१ ॥

एतासु—आसु नदीषु इत्यर्थः, स्नानेन—अवगाहनेन, कथं—केन प्रकारेण, शुध्यति ?—पूतो भवति ? गङ्गादिजलावगाहनेन लोकानां पवित्रतादर्शनात् एतदेवानुमीयते, यत् गङ्गादीनां नलिलानि नूनं प्रभाः अभिषेकनलिलकृतानीति, अन्यथा तेषां अभिषेकनलिलवत् पावनत्वान्मन्वादिति भावः । अत्र प्रत्यक्षात् नदीजलस्नानेन परिशुद्धिरूपात् साधनात् अभिषेकजलेन नदीनामुत्पत्तिरूपस्य अतीतकालवर्तिनः साध्यस्य ज्ञानं सञ्जातमिति अनुमानालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४० ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् अनागतवस्तुनो ज्ञानरूपमनुमानमुदाहरति, जम्भभित्तिरिति ।—हे सखि !—सहचरि ! जम्भभित्तिः,—जम्भासुरनिहन्तुः, इन्द्रस्येत्यर्थः, ककुभि—दिशि, पूर्वस्यां दिशेति भावः, (“दिशस्तु ककुभः काष्ठाः” इत्यमरः) यथा—यस्मादित्यर्थः, शुभ्रं—धवलं, निम्नलमित्यर्थः, ज्योतिः,—प्रभा, विजृम्भते—उद्गच्छति, प्रकाशते इत्यर्थः, तथा—तस्मादित्यर्थः, खलः—क्रूरः, निशाकरः,—चन्द्रः, उदेष्यति—उदय यास्यति, अचिरमेव प्रकाशित्यते इत्यर्थः, इति—इत्थं, मन्ये—मन्वावयामि, पूर्वस्यां दिशि निम्नलप्रभाप्रकाशात् एतदेव अनुमायते, यत् अचिरमेव विरहानलमन्दीपकः सुधाकरः उदेष्यतीति विरहिणा त्वम् अवहिता भवेति भावः । अत्र प्रत्यक्षात् शुभ्रज्जातिः प्रकाशरूपात् लिङ्गात् (साधनात्) भाविनः निशाकरोदयरूपस्य लिङ्गिनः (साध्यस्य) ज्ञानं सञ्जातमिति अनुमानालङ्कारः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४१ ॥

वर्तमानानुमानोदाहरणम्,—

मुखप्रभाबाधितकान्तिरस्या दोषाकरः किङ्करतां विभक्तिं ।

तल्लोचनश्रीहृतिमापराधान्यञ्जानिनो चेत् किमयं क्षिणोति? ॥ १४२ ॥

परिसङ्ग्रामाह,—

यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।

अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसङ्गोच्यते बुधैः ॥ १४३ ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् वर्तमानस्य वस्तुनो ज्ञानरूपमनुमान-
मुदाहरति, मुखेति ।—दोषाकरः,—दोषा—रात्रिं करोति
इति दोषाकरः, चन्द्र इत्यर्थः, [दाषाणां—दृषणानाम्, आकरः
इत्यपि व्यज्यते] मुखस्य—एतद्वदनस्येत्यर्थः, प्रभया—कान्त्या,
बाधिता—निजिता, कान्तिः,—शोभा यस्य तथाभूतः सन्,
अस्याः,—कान्तायाः, किङ्करता—दास्यं, विभक्तिं—करोति ;
नो चेत्—अन्यथा, अकिङ्करश्चेदित्यर्थः, अय—दोषाकरः,
तस्याः,—कान्तायाः, लोचनयोः,—नयनयोः, श्रियाः,—कान्तेः,
हृतिः,—हरणं, तथा सापराधानि—कृतापराधानि, अञ्जानि
—कमलानि, किं—कथं, क्षिणोति ?—पीडयति ?—सङ्कोचय-
तीति यावत् ; दृश्यते हि प्रभुभक्तस्य दासस्य प्रभोभिरेषु अनु-
रागः, शत्रुषु द्वेषः, नयनशोभाहरणकृतापराधादुपजातवैराया
अस्या रमस्या विद्वेषभाजनानां कमलानां पीडनात् एतदेव
अनुमीयते, यदेतद्रमणोवदनविनिजितः चन्द्रः अस्या दास्य-
मुपगत इति, नो चेत् कथं कमले चन्द्रस्य द्वेषः ? इति हृदयम् ।
अत्र प्रत्यक्षात् चन्द्रस्य अजपीडनरूपात् अलङ्कात् (साधनात्)
वर्तमानकालसम्बन्धवतः लिङ्गिनः (साध्यस्य) दोषाकरकिङ्कर-
त्वस्य ज्ञानमुपजायते इति अनुमानालङ्कारसङ्गतिः । उपेन्द्र-
वज्रेन्द्रवज्रयामेलनादुपजातिवृत्तम् ॥ १४२ ॥

अथावसरसङ्ख्या परिसङ्ख्यां लक्षयति, यत्नेति ।—यत्र—

उदाहरणम्,—

यत्र वायुः परं चौरः पौरसौरभमस्यदाम् ।

युवानो यत्र राजन्त एकनिक्षिप्तभीतयः ॥ १४४ ॥

यस्मिन् अलङ्कारे, साधारणं—सामान्यं, किञ्चित्—किमपि वस्तु इत्यर्थः, अन्यत्र—अन्यस्मिन् वाक्ये, तस्य—वस्तुनः, निवृत्त्यै—निवृत्त्यर्थम्, अभावसिद्ध्यर्थमित्यर्थः, एकत्र—एकस्मिन्नेव वस्तुनि, प्रतिपाद्यते—निबध्यते, बुधैः—पण्डितैः, [इह “बुधैः” इत्यत्र “यथा” इति पाठे, यथाशब्दः उदाहरणप्रदर्शनायैको बोध्यः] सा परिसङ्ख्या—तन्नामालङ्कारः, उच्यते—कथ्यते ॥ १४३ ॥

परिसङ्ख्यामुदाहरति, यत्रेति ।—यत्र—यस्यां नगर्याम् इत्यर्थः, पर—केवलं, वायुः,—पवनः, पौराणि—पुरं भवानि, यानि सौरभाणि—सङ्ख्याः, तानि एव सम्पदः,—समृद्धयः, तासां चौरः,—तस्करः, नगरशानितुः शासनगुणेन तत्र पौर-सौरभभारिणमेकं पवनं विहाय नान्यः काश्चित् चौरं आसीत् इति भावः, तथा, यत्र—यस्याच्चेत्यर्थः, युवानः,—तरुणाः, एकस्मिन्—एकत्र, धर्मे एवेति भावः, निक्षिप्ता—निहिता, अवलम्बितेत्यर्थः, भीतिः,—भयं, यैः तथाभूताः, राजन्ते—शोभन्ते, यत्र युवानः केवलं धर्मात् विभ्युः, न अन्येभ्य इति भावः । अत्र “वायुरेव चौरः” इति कथनात्, चौर्यस्य साधारण्येऽपि अन्यस्मिन् काश्चिच्चित् तन्निवृत्त्यर्थं केवले वायावैव तत् प्रतिपादितम् ; एवं सौरभसम्पदामेव चौर इति कथनात् अन्येषु वस्तुषु तन्निवृत्तये केवलं सौरभे एव अपहरणीयता समायता ; तथा “युवानः एकनिक्षिप्तभीतयः” इति कथनात् भीतिः सर्वसाधारण्येऽपि भीतिकारणेभ्यः सिंहव्याघ्रादिभ्यः सर्वेभ्यो निवृत्त्यै सा केवलं धर्म एव स्थिता, इति परि-

प्रश्नोत्तरमाह,—

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाऽप्यथवोभयम् ।

प्रश्नात्तरं—

सङ्गरं लक्षयति,—

—तथोक्तानां संसर्गं सङ्गरं विदुः ॥ १४५ ॥

सङ्गरासङ्गतिः । [अत्र उत्तरार्द्धे “युवानश्च कृतक्रोधादेव बिभ्यु-
र्बधूजनात्” इति पाठे तु—युवानः,—युवजनाः, कृतक्रोधात्
—कृतः,—विहितः, क्रोधः,—मानरूपः कोपः, सपत्नीसङ्गाच्चक्र-
दर्शनेन इति भावः, येन तादृशात्, बधूजनात्—मानिनी-
जनात्, एव बिभ्युः—बिभ्यति स्मेत्यर्थः ; अस्मिन् पक्षे—“युवा-
नश्च बिभ्युः” इत्युक्त्या सकलजनसाधारणस्यापि भयस्य युवजने-
तरेषु बालेषु वृद्धेषु च निवृत्त्यर्थं केवलं युवकेष्वेव प्रतिपादनं
विहितम् ; तथा “बधूजनात् बिभ्युः” इत्यभिधानात् भाति-
जनकत्वस्य साधारण्येऽपि अन्यत्र हिंसादिषु तद्विवृत्त्यर्थं केवलं
सञ्ज्ञातरोषासु कामिनीष्वेव तत्प्रतिपादितमिति लक्षणसम-
न्वयः] । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४४ ॥

अथ सप्रभेदं प्रश्नोत्तरमलङ्कारं, तथा सङ्करालङ्कारश्चैकेनैव
पद्येन लक्षयति, प्रश्ने इति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, प्रश्ने—
जिज्ञामायाम्. उत्तरं—प्रतिवचनं, व्यक्तम्—अगूढं, वा—
अथवा, गूढम्—अव्यक्तम्, अथवा—किंवा, उभयं—व्यक्तम-
व्यक्तश्चेत्यर्थः, स्यादिति शेषः, तं प्रश्नोत्तरं—तन्नामालङ्कारम् ;
तथा—एवम्, उक्तानां—समनन्तरं कथितानां शब्दार्थालङ्कारा-
णामित्यर्थः, संसर्गं—संयोजनं, सङ्गरं—तदाख्यम् अलङ्कारं,
विदुः,—जानन्ति, बुधा इति शेषः ॥ १४५ ॥

व्यक्तीतरं यथा,—

अस्मिन्नपारसंसारमागरे मज्जतां सताम् ।

किं समालम्बनं ? साधो ! रागद्वेषपरिचयः ॥ १४६ ॥

व्यक्तीतरं प्रश्नोत्तरालङ्कारमुदाहरति, अस्मिन्निति ।—हे साधो !—मज्जन ! अस्मिन्—दृश्यमाने, अपारसंसारमागरे—दुस्तरभवाच्चौ, मज्जतां—निपततां, सतां—साधूनां, समालम्बनम्—आश्रयः, किम् ?—कः पदाश्रयः ? (इति प्रश्नः) । रागद्वेषपरिचयः,—रागः,—अनुरागः, पुत्रकलत्रादिषु आसक्तिरिति यावत्, द्वेषः,—वैर, तयोः परिचयः,—सर्वतोभावेन नाशः, सर्वत्र समदर्शनम् इति भावः, समालम्बनमिति पूर्व्वणान्वयः, सर्वेषां रागद्वेषपरिचय एव संसारमागरादुत्तरणोपाय इति भावः, (इति उत्तरम्) । अत्र “किं समालम्बनम् ?” इति प्रश्ने “रागद्वेषपरिचयः” इति व्यक्तीतरस्य प्रदानात् प्रश्नोत्तरालङ्कारसङ्गतिः । अन्ये तु अत्र परिसङ्ख्यामाहुः, तथा हि,—“प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथितादस्तुना भवेत् । तादृगन्यव्यपेक्ष्यच्छाब्द आर्योऽथवा तदा ॥” इति दर्पणोक्तलक्षणानुसारेण “किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं, किं कार्य्यमाय्येचरितं सुकृतं न दोषः । किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्र, जानाति कस्तदपरः सदसद्विकम् ॥” इत्याद्युदाहरणेष्विव अत्रापि लक्षणसङ्गतेः । तथाच प्रश्नोत्तरं नामालङ्कारान्तरं नास्त्येव । न च तर्हि उत्तरमेव तदङ्गीकार्य्यम् इत्याशङ्क्यम्, “—उत्तरं प्रश्नोत्तरादुन्नयो यदि । यच्चामक्तमन्भाव्यं मत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥” इत्युक्तलक्षणानुगतात् “एकाकिनी यद्वला तरुणी तथाऽऽह-मस्मद्गृहे गृहपतिश्च भती विदेशम् । कं याचसे तदिह वाममियं वराका श्वश्रूममान्धवधिरा ननु मूढपान्थ ! ॥” इत्युक्तलक्ष्यात् अस्य मैदस्य परिस्फुटत्वात् इति । वयं त्वेवं सम्भावयामः,—

गूढोत्तरं यथा,—

क्व वसन्ति श्रियो नित्यं भूभृतां ? वट कोविट ! ।

असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोच्यते ॥ १४७ ॥

लक्ष्यानुसारणं लक्षणव्यवस्थेति नियमेन प्रकृतोदाहरणे
“आत्मन्त्रपारमसार—” इत्यादौ केवलस्य प्रश्नस्य उत्तरं, न तु
तन्नियमनं, “किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नम्—” इत्यादौ तु
नैवम् ; इति विच्छित्तिविशेषेण अलङ्कारान्तरस्वीकारज्यायस्वे
युक्तमेवास्य पृथगभिधानम् ; नवीनोत्तरालङ्कारस्वस्यैव भेदा-
न्तरमिति । पथ्यवह्नं वृत्तम् ॥ १४६ ॥

गूढोत्तरं प्रश्नोत्तरालङ्कारम् उदाहरति, केति ।—हे
कोविट !—विद्वन् ! (“—सन् सुधीः कोविटो बुधः”
इत्यमरः) भूभृतां—पृथ्वीपतीनां, श्रियोः,—लक्ष्म्यः, नित्यं—
सततं, क्व—कुत्र, वसन्ति ?—तिष्ठन्ति ? (इति प्रश्नः) । असौ
—अयं, अनिवास इति यावत्, कोऽपि—असाधारणः, अनि-
र्वचनीय इत्यर्थः, अतिशयः,—विलक्षणः पदार्थः, यद्वा,—
अतिशयः,—शयं—हस्तम् अतिक्रान्तः, हस्तेन इतस्ततः
अन्विष्यतांऽपि पुंसः दुर्लभ इति भावः, यत्—स्थानम्, उक्तम्
अपि—कथितम् अपि, न ऊह्यते—न ज्ञायते ; राज्ञां सम्पदः
तत्र स्थाने तिष्ठन्ति, यत् कथितमपि लोकैः नावगन्तुं शक्यते
इत्याशयः, (इति अविस्पष्टोऽर्थः) । पर्यवसाने तु असौ—
करवाले, कोऽपि—अनिर्वचनीय इत्यर्थः, अतिशयः,—
प्रभावः, अस्ति इति शेषः, तत्र एव श्रौः वसति इति
गूढमुत्तरम् । अत्र “क्व वसन्ति श्रियो राज्ञाम्” इति प्रश्ने
“खड्गे राजसम्पदां वामः” इति विवक्षितमपि उत्तरं खड्ग-
वाचक-अभि-शब्दस्य सप्तम्येकवचननिष्पन्नस्य “असौ” इति

गूढागूढोभययथा,—

किमैभं श्लाघ्यमाख्याति ? पक्षिणं कः ? कुतो यशः ? ।

गरुडः कीदृशो नित्यम् ? दानवारिविराजितः ॥ १४८ ॥

पदस्य अदम्बशब्दस्य प्रथमैकवचनसिद्धेन “असौ” इति पटनं समतया निगूढमिति गूढोत्तरालङ्कारमङ्गतिः । पद्यावक्तुं वृत्तम् ॥ १४७ ॥

गूढागूढोभयरूपमुत्तरालङ्कारमुदाहरति, किमिति ।—
इभः,—हस्ती, तस्येदमिति ऐभम्—इभमस्वन्वीत्यर्थः, किं—
किं वस्तु इत्यर्थः, श्लाघ्यम् ?—प्रशंसनीयम् ? , कः—किमा-
त्मकः, शब्दः,—पदं, पक्षिणं—खगम्, आख्याति—अभिधत्ते ?
पक्षिवाचकः शब्दः क इत्यर्थः, यशः,—कीर्तिः, कुतः,—
कक्षात् ? भवति इति शेषः, कीर्त्तिकारणं किमस्तीत्यर्थः,
गरुडः,—खनामप्रसिद्धः पक्षिविशेषः, नित्यम्—सततं, कीदृशः ?
—कथञ्भूतः ? किलक्षणक इत्यर्थः, एषु चतुर्षु प्रश्नेषु यथा-
क्रममुत्तरमाह, दानवारिविराजितः इति ।—तत्र प्रथमस्य
उत्तरं दानवारि—मदजलमिति ; द्वितीयस्य विः,—पक्षीति ;
तृतीयस्य आजितः,—सङ्ग्रामादिति ; एतच्च गूढम् ; चतुर्थस्य
उत्तरं पुनः,—दानवारिविराजितः,—दानवानाम्—असुरा-
णाम्, अरिः,—विष्णु, तेन विराजितः,—शोभितः, इत्येतच्च
व्यक्तम् । अत्र प्रथमोक्तानां “किमैभम्” इत्यादि प्रश्नत्रया-
णाम् “दान-वारि” “विः” “आजितः” इत्येवंरूपाणि त्रैश्व-
त्तराणि अस्यष्टार्थतया गूढानि, “गरुडः” इत्यादिकस्य चतुर्थस्य
प्रश्नस्य तु “दानवारिविराजितः” इत्युत्तरं सुखबोधानुकूलतया
व्यक्तम् इति प्रश्नात्तराणां गूढागूढोभयात्मकतया गूढागूढो-
भयरूपप्रश्नात्तरालङ्कारसङ्गतिः । पद्यावक्तुं वृत्तम् ॥ १४८ ॥

सङ्ग यथा,—

वम्भच्छुत्तितंपुडमोत्तिश्रमणिणी प्पहासमूह इव ।

सिरिवाहड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स मोमस्स ॥ १४६ ॥

यथात्तराक्तानामन्ये शमलङ्काराणामनभिधाने हेतुमाह,—

अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव वा ।

अलङ्कियाणामन्यासामनिबन्धनिबन्धनम् ॥ १५० ॥

प्राकृतेन सङ्करालङ्कारम् उदाहरति, वम्भच्छेति ।—
[ब्रह्माण्ड-शुक्ति-सम्पुट-मोक्तिक्रमणेः प्रभासमूह इव । श्रीवाग्भट
इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ॥ इति संस्कृतम्] । ब्रह्माण्डं
—जगत् एव, शुक्तिः,—मुक्तास्फोटः, (“मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः”
इत्यमरः) सा एव सम्पुटः,—आधारविशेषः, तस्य तत्र वा
मोक्तिकर्मणि,—मुक्तारत्नं, तथाभूतस्य, तस्य—प्रसिद्धस्येत्यर्थः,
सोमस्य—तदाख्यस्य वाग्भटपितुः, चन्द्रस्य च, प्रभासमूहः
इव—दीप्तिजालमिव, श्रीवाग्भट इति—श्रीवाग्भट इत्येतन्नाम्ना
ख्यात इत्यर्थः, बुधः,—विद्वान्, तदाख्यचतुर्थग्रहश्चेत्यर्थः,
तनयः,—पुत्रः, आसीत्—अवर्तत । अत्र ब्रह्माण्डेति रूपकं,
प्रभासमूह इवेत्युपेक्षा, सोमस्य तनयः बुध इति शेषः,
साकल्येन जातिः इति चतुर्थीम् अलङ्काराणामेकत्र समवायात्
सङ्कराख्य. अयम् अलङ्कारः । अनेन च सङ्करालङ्कारोदाहरणेन
स्वरिचयम् अभिहितं ग्रन्थकारेण इति बोध्यम् । आव्या
हृतम् ॥ १४६ ॥

ननु कथमेत एवालङ्काराः ? आचार्यान्तरैः अलङ्कारान्तरा-
णामपि स्वीकृतत्वादित्याशङ्कायां समाधानमाह, अचमत्कारि-
तेति ।—अन्यासाम्—अपरासान्, उक्ताभ्य इति शेषः, ‘अल-
ङ्कियाणाम्—अलङ्काराणाम्, आचार्यान्तरादृतानामन्योक्त्वा-

उपसंहर्गतः,—

अर्थेन येनातिचमत्करोति

प्रायः कवित्वं कृतिनां मनःसु ।

अलङ्घ्यात्वेन स एव तस्मिन्

अनूह्यतां हन्त ! दिशाऽनयैव ॥ १५१ ॥

इति चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

दौनामित्यर्थः, अनिवन्ध्यः—अनुपादानस्य, अचमत्कारिता—
चमत्कारराहित्य, वैचित्र्यविशेषानाधायकत्वमित्याशयः, वा—
किंवा, उक्तेषु—अस्मिन्नेव ग्रन्थे कथितेषु अलङ्कारेष्वित्यर्थः, अन्त-
र्भावः,—अन्तर्निवेशः, एकरूपतया अभेदप्रतिपादनमित्यर्थः,
एव निबन्धनं—हेतुः, स्यात्—भवेत् । चमत्कारिता एव अल-
ङ्कारबीजम्, एतदमत्त्वे अलङ्कारत्वानुदयात् नास्माभिः तथा-
विधानामलङ्कारत्वमङ्गीकृतमिति बाध्यम् ; यद्वा,—एतद्ग्रन्था-
न्तेष्वेव सचमत्कारतया अलङ्कारात्मना स्वीकार्यमाणामस्मा-
भिश्च अनुक्तानामन्येषामलङ्काराणाम् अन्तर्भाव ऊह्य इति
भावः ॥ १५० ॥

सम्प्रति सामान्यतश्चमत्कारमेव अलङ्कारमिति वदन्नुपसं-
रति, अर्थेनेति ।—हन्त !—भो इति सामान्यतः सम्बोधनम् ;
कवित्वं—काव्य, कृतिनां—सहृदयानां सामाजिकानामित्यर्थः,
मनःसु—चित्तेषु, प्रायः,—वाहुल्येन, येन—यादृशेन, अर्थेन—
वस्तुना, अति—अतिशयेन, चमत्करोति—वैचित्र्यमापादयति,
चमत्कारकत्वेन आभाति इत्यर्थः, तस्मिन्—तत्र, काव्ये इति
शेषः, स एव—तादृश एवार्थ इत्यर्थः, अलङ्घ्यात्वेन—अल-
ङ्कारत्वेन, अलङ्काररूपेणेत्यर्थः, अनयैव—एतयैव, मदुक्तया इति
भावः, दिशा—रीत्या, अनूह्यतां—ज्ञायताम्, अवधार्यता-

पञ्चमः परिच्छेदः ।

रोतिमाह.—

हे एव रोती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।

एका भूयःसमासा स्यादसमस्तपदाऽपरा ॥ १ ॥

मित्यर्थः, मत्प्रदर्शितालङ्कारविरहितमापि काव्यं विषयवैचित्र्यात् सामाजिकानां चेतांसि चमत्करोति चेत्, सोऽपि अलङ्कारत्वेन अवगन्तव्यः, वैचित्र्यस्यैव चित्तचमत्काराधायकतया अलङ्काररूपत्वस्वीकारात् इति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १५१ ॥

इति वाग्मटालङ्कारि चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

“नाधुशब्दार्थमन्दर्भम्” इत्यादिना प्रदर्शितं काव्यकरणक्रममात्रित्य अलङ्कारमुक्त्वा साम्प्रतं क्रमप्राप्तां द्विविधां रातिमाह, हे इति ।—गौडीया—गाड़देशप्रचलिता, वैदर्भी—विदर्भदेशप्रचलिता, च इति हे एव—द्विधा भिन्ने एव, रोती—पदानां सङ्घट्टनाविशेषरूपे इत्यर्थः, (उक्तञ्च दर्पणे,—“पदसङ्घट्टना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्” इति) गौडीवैदर्भीभेदाभ्यां रोतेः हा भेदाविति निष्कर्षः, तथा सान्तरे—त हे सविशेषे, अन्यान्य प्रभेदशालिन्यो इत्यर्थः ; तत्र तदेवान्तरमाह, एकेति । —एका—प्रथमा गौडी, भूयांसः,—बहवः, समासा,—समस्तपदानि यस्यां तथाभूता, समासबहुला इत्यर्थः, अपरा—द्वितीया वैदर्भी, असमस्तानि—समासवर्जितानि, पदानि—सुप्तिङन्तानि यस्यां तथाभूता, समासविरहिता इत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ॥ १ ॥

गौडीयाः इत्यादिभिरुक्तम्,—

दर्शयति तत्तुल्यं नयनयावत्प्रपातादिति-

क्रूरकन्दतुच्छकच्छप्रकुवक्रैङ्गारवारीकृतः ।

विश्वं ववरवध्यमानप्रयतः मिप्राप्रगायाः स्फुर-

न्नाक्रामयप्रमक्रमेण बहुलं कल्लोलकोलाहलः ॥ २ ॥

उक्त्याहयोः प्रयत्नो गाडीम् उदाहर्ति, दर्पति । - वव-
रण—तडास्थेन तेनचित् राजमेन, वध्यमानानि—रुध्य-
मानानि, जलविहारकाले इति भावः, पयांसि—जलानि
यस्याः तथाभूतायाः निप्राप्रगायाः,—नन्नामप्रमिहाया नद्याः,
दर्पण—अवलपेन, वलवत्त्वाभिमानित्यर्थः, उत्पाटिताः,—
उन्मूलिताः, तुङ्गाः,—उन्नताः, ये पर्वताः,—गिरयः, तेषां
शतस्य—शतमहारायाः, समूहस्येत्यर्थः, ये प्रावाणः,—प्रस्तराः,
उत्पाटनवेगेन चलितकृद्रपाषाणा इत्याशयः, (“पाषाण-
प्रस्तरप्रावोपलाशमानः” इत्यमरः) तेषां प्रपातेन—प्रकष्ट-
पतनेन, या आहतिः,—आघातः, तथा क्रूरम्—उत्कटं,
श्रुतिकठोरं यथा तथैवयः, आक्रन्दन्तः,—चोत्कुर्वन्तः, आत्ते-
नादं विदधत इत्यर्थः, अतुच्छाः,—महान्तः, ये कच्छपाः,—
कूर्माः, तेषां कुलस्य—वृन्दस्य, क्रैङ्गारण—स्वजात्यचितनाद-
विशेषेण, घोरीकृतः,—रीद्रीकृतः, भयानकत्वं प्रापित इत्यर्थः,
स्फुरन्—प्रसरन्, इतस्ततो विस्तारं गच्छन्निति यावत्, बहुलः,
—प्रभूतः, कूर्मचोत्कार-कल्लोलकलकलयोः समिश्रणेनेति
भावः, अयं—श्रूयमाण इत्यर्थः, कल्लोलकोलाहलः,—तरङ्ग-
कलरवः, अक्रमेण—युगपत् इत्यर्थः, समकालमेवेति यावत्,
विश्व—जगत्, आक्रामति—व्याप्नोति । अत्र रचनायाः
समाप्तबहुलत्वेन गौडीयाया रीतिविषयः । शाहूलविक्रीडितं
वृत्तम् ॥ २ ॥

वैदर्भ्या उदाहरणम्,—

विप्राः प्रकृत्यैव भवन्ति लोला
लोकोक्तिरेषा न सृषा कदाचित् ।
यच्चम्ब्यमानां मधुपैर्द्विजेशः
श्लिथत्यसौ कौरविणीं कराग्रैः ॥ ३ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः ।

अत्र द्वितीयां रीतिं वैदर्भीम् उदाहरति, विप्रा इति ।—
विप्राः,—ब्राह्मणाः, प्रकृत्या एव—स्वभावेन एव, लोलाः
—चपलाः, अधीरा इत्यर्थः, भवन्ति—जायन्ते, एषा—इयं,
लोकोक्तिः,—जनप्रवादः, कदाचित्—कदापि, सृषा—मिथ्या,
न—नत्यमेवेत्यर्थः, यत्—यतः, असौ—अयं, परिदृश्यमान
इत्यर्थः, (इति उदितं चन्द्रं प्रति अङ्गुलिनिर्देशतः प्रदर्शनं
बोध्यम्), द्विजेशः,—द्विजराजः, चन्द्र इत्यर्थः, (“द्विजराजः
शर्गवरो नवतेशः क्षपाकरः” इत्यमरः) ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, मधुपैः,
—भ्रमरैः, मद्यपैश्च, चुम्ब्यमानाम्—आस्वादयमानमुखान्मृता-
मित्यर्थः, कौरविणीं—कुमुदिनीं, तदाख्यां कामपि कामिनीञ्च,
कराग्रैः,—किरणाग्रैः, हस्ताग्रैश्च, श्लिथति—सृशति, आलि-
ङ्गति इति च ; द्विजराजस्यापि यदा ईदृक् लोलत्वं, तदा
सामान्यद्विजानां लोलत्वे लोकोक्तिः अव्यभिचारितया यथार्थ-
वेति भावः । अत्र रचनायाः प्रायेण समासरहितत्वात्
वैदर्भ्या रीतिः विषयः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥

षष्ठः परिच्छेदः ।

काव्यं रसानामुपयोगितामाह,—

साधुपाकेऽप्यनास्वादं भोज्यं निर्लवणं यथा ।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ १ ॥

रसस्वरूपमाह,—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायी भावः स्मृतो रसः ॥ २ ॥

साम्प्रत रसान् विवक्षुः काव्ये तदुपयोगितां दर्शयति,
साध्विति ।—साधुपाके अपि—सुचारुरूपेण अनाष्ठतऽपि पाके
इत्यर्थः, निर्लवणं—लवणरसशून्यं, लवणविरहितमित्यर्थः,
भोज्यं—भोजनायं, व्यञ्जनादिकर्मात् यावत्, यथा—यद्वत्,
अनास्वादम्—अनास्वादनीयं, विगतास्वादतया भोजनानर्ह-
मिति यावत्, भवति इति शेषः, नीरसं—रसवर्जितं, काव्य—
कवित्वं, तथैव—तद्वदेव, अनास्वादम् (आस्वादाविषयम्) इति
पूर्वणान्वयः, भवतीति शेषः, तादृशं काव्यं सामाजिकमनास
प्रीणयितुं न शक्नोतीति भावः, इति—इति हेतोः, इह—आस्मन्
परिच्छेदः, रसान्—शृङ्गारार्दीन्, ब्रूमः,—निरूपयामः, वयम्
इति शेषः । ब्रूमः इति बहुवचनम् आत्मना सामर्थ्यबाहुल्य-
प्रकटनाय इति बोध्यम् । यथा स्वादसौरभ्याद्यापादकैर्नानावधैः
द्रव्यैः सुपक्वमापि भोज्यद्रव्यम् अलवणं चेत् न रसनाप्राप्ति-
करं भवति, तथा गुणालङ्कारादिभिः काव्योत्कर्षापादकैर्बहुभिः
पदार्थैः समन्वितमापि सत्काव्यभाषितं रसवर्जितं चेत् न चित्त-
चमत्कारापादकं भवतीति भावः ॥ १ ॥

रसस्वरूपं लक्षयति, विभावैरिति ।—विभावैः,—आत्म-

स्वनोद्दीपनाख्यरत्याद्युद्बोधकैः, अनुभावैः,—हावभावादिभिः,
 सात्त्विकैः,—स्तम्भस्वेदादिभिः रजस्तमोनिर्मुक्तमनःसम्भूत-
 विकारविशेषात्मकैः, तथा व्यभिचारिभिः,—निर्वदादिभिः
 मञ्जुगिभिश्च, भावैः इति शेषः, उत्कर्ष—प्राकट्यं, स्फुटता-
 मित्यर्थः, आरोप्यमाणः,—नीयमानः, तिष्ठति इति स्थायी—
 स्थास्रः, भावान्तरैरतिरस्कृतः इत्यर्थः, अविच्छेदेन आद्योपान्त-
 स्थितः इति यावत्, भावः,—रत्यादिः इत्यर्थः, रसः,—शृङ्गारादि-
 रूप इत्यर्थः, स्मृतः,—कथितः। विभावाः,—वि—विशेषेण, भाव-
 यन्ति—उद्बोधयन्ति स्वं स्वं रत्यादिस्थायिभावमिति, चन्द्रचन्द-
 नादय इत्यर्थः, ते हि रामसीतादीनां मनसि अन्योन्यविषयक-
 मनुराग जनयन्ति ; यद्वा—विभावयन्ति—अन्योऽन्यम् अनुभाव-
 यन्ति स्वरत्यादिकमिति विभावाः रामसीतादयः, यथा रामः
 सीताविषयकम् अनुरागं सीता, सीता च रामविषयकम् अनु-
 रागं राममनुभावयति इति, उद्दीपकाश्च आलम्बनचेष्टाकटा-
 र्क्षादयः चन्द्रचन्दनमलयजादयश्च, ते हि रामसीतादीनां मनसि
 अन्योऽन्यविषयकमनुरागम् उद्दीपयन्ति। उक्तञ्च दर्पणे,—“रत्या-
 द्युद्बोधका लोके दिभावः काव्यनाव्ययाः। आलम्बनोद्दीपनाख्यौ
 तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्ग-
 मात्। उद्दीपनावभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्ब-
 नस्य चेष्टाया देशकालादयस्तथा ॥” इति। अनुभावाः,—
 अनुभावयन्ते—अनुभवविषयाक्रियन्ते, रत्यादिस्थायिभावा एभिः
 इति अनुभावाः, हावभावादयः ; उक्तञ्च दर्पणे,—“उद्बुद्धं
 कारणः स्वैः स्वैः वाहर्भाव प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः
 सांनुभावः काव्यनाव्ययाः ॥” इति। सात्त्विकाः,—सत्त्व—रज-
 स्तमोभ्याम् असंस्पृष्टमनोवृत्तिविशेषः, तत्संभूताः विकृतित्रिशयाः
 सात्त्विकाः ; उक्तञ्च दर्पणे,—“रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्व-

मिहोच्यते । विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥
 स्तम्भः खेदोऽयं रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽयं विषयः । वैवर्ण्यमश्रु-
 प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥” इति । तेषामपि विशेष-
 लक्षणानि तत्रैवोक्तानि ; यथा,—“स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षा-
 मयादिभिः । वपुर्जलोद्गमः खेदो रतिघर्षमादिभिः ॥ हर्षा-
 द्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया । मदसम्पदपीडाद्यैर्वैवर्ण्यं
 गद्गदं विदुः ॥ रागद्वेषमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य विषयः । विषाद-
 मदरोपाद्यैर्वैवर्ण्यं न्यत्वं विवर्णता ॥ अश्रुनेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःख-
 प्रहयेजम् । प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥” इति ।
 व्यभिचरन्ति—विशेषेण आभिसुख्येन च चरन्ति—अन्तरान्तरा
 आविर्भवन्ति ये तथोक्ताः, यदा—विशेषेण अभितः । सर्वाङ्ग-
 व्यापितया) चारयन्ति—रत्यादिस्थायिभावान् कार्ये सञ्चार-
 यन्ति, सुहृर्मुहुरभिव्यञ्जयन्ति वा ये, ते व्यभिचारिणः, उक्तञ्च
 दर्पणे,—“विशेषादाभिसुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः । स्थायि-
 न्युन्मग्ननिर्मग्नास्वयस्विंशच्च तद्भिदाः ॥” अन्यत्राप्युक्तम्,—
 “ये तूपकृत्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् । उपकृत्य च गच्छन्ति
 ते मता व्यभिचारिणः ॥” इति । ते च निर्वेदादयः ; यथा
 दर्पणे,—“निर्वेदावेगदेन्यश्ममदजडता औग्र्यमोर्हा विबोधः
 स्वप्नापस्मारगवा मरणमलमताऽमर्षेनिद्राऽवहित्याः । औत्सुक्यो-
 न्मादशङ्काः स्मृतिमतिमहिता व्याधिमन्त्रासलज्जा हर्षासूया-
 विषादाः सधृतिचपलताग्लानिचिन्तावितर्काः ॥” इति । स्थायि-
 भावाः रत्यादयोऽपि रसान्तरेषु व्यभिचारिणः स्युरिति बोध्यम् ।
 स्थायो भावश्च रत्यादिः ; तदुक्तं दर्पणे,—“रतिर्हासश्च शोकश्च
 क्राधोत्साहो भयं तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः
 शमाऽपि च ॥” इति । तदेवं काव्यनाव्यनिवेशितैः अलोककैः
 विभावैः*कारणभूतैः, अनुभावैः सात्त्विकैश्च कार्यविशेषभूतैः,

रसनामान्याह,—

शृङ्गारवीरकरुणा हास्याद्भुतभयानकाः ।

रौद्रवीभत्सशान्ताश्च नवैते कथिता बुधैः ॥ ३ ॥

व्यभिचारिभिः सहकारिभिश्च पुष्टिं नीयमानः रत्यादिः स्थायी
भावः रसः कथ्यते इति निष्कर्षः ॥ २ ॥

रसानां नामान्याह, शृङ्गारति ।—बुधैः,—पण्डितैः,
शृङ्गारः, वीरः, करुणः, हास्यः, अद्भुतः, भयानकः, रौद्रः,
वीभत्सः, शान्तश्च, इति एते—उक्तरूपाः, नव—नवप्रकाराः,
रसाः इति शेषः, कथिताः,—स्मृताः । तत्र शृङ्गारस्य सर्व्वेषाम्
अतीव मनोज्ञत्वात् प्रथमम् उपादानं, वीरस्य च उत्तमप्रकृति-
कत्वात् ततः, ततश्च क्रमेण अन्येषाम् । शान्तस्य तु सर्व्वो-
त्तमस्यापि अधिकारिणां ज्ञातपरमार्थानां विरलत्वात् सर्व्वशेषे
समुपादानमिति बोध्यम् ।

एतेषाञ्च रसानां स्थायिभावा उक्ता यथा,—“रतिर्हासश्च
शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा । जुगुप्सा विस्मयश्च शमाः स्थायि-
भावाः प्रकीर्त्तिताः ॥” अस्यार्थः,—समनन्तरमुक्तानां रसानां
यथायोग्यमेव एकैकः स्थायिभावः बोध्यः, तथा च,—रतिः,
—अनुरागः, शृङ्गारस्य स्थायिभावः, हासः,—हास्यं, हास्य-
रसस्य स्थायिभावः, शोकः,—इष्टवियोगादिजन्यं दुःखं, करुण-
रसस्य स्थायिभावः, क्रोधः,—रोषः, रौद्ररसस्य स्थायिभावः,
उत्साहः,—उद्यमः, वीररसस्य स्थायिभावः, भयं,—भीतिः,
भयानकरसस्य स्थायिभावः, जुगुप्सा—निन्देत्यर्थः, वीभत्स-
रसस्य स्थायिभावः, विस्मयः,—आश्चर्य्यम्, अद्भुतरसस्य स्थायि-
भावः, शमः,—शान्तिः, शान्तरसस्य स्थायिभावः, एते
रत्यादयः स्थायिभावाः,—अविच्छिन्नप्रवाहरूपेणानुवर्त्तमाना-

शृङ्गारस्य भेदाः—रमाह —

जायापत्योर्मियो रत्यावृत्तिः शृङ्गार उच्यते ।

संयोगो विप्रलम्भश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ॥ ४ ॥

शृङ्गारस्य भेदाः—रमाह —

तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ।

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा मतः ॥ ५ ॥

भावा इत्यर्थः, प्रकीर्त्तिताः,—कथिताः, सर्वैरालङ्कारिकैरिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्र आदौ सविभाग शृङ्गारलक्षणमाह, जायते ।—जाया-
पत्योः,—स्त्रीपुंसयोः, पातिपत्न्यारित्यर्थः, मिथः,—अन्योऽन्यं,
रतेः,—अनुरागस्य, आवृत्तिः,—पुनः पुनः अनुभवः, बाहुल्येनानु-
शीलनमित्यर्थः, [“रत्यावृत्तिः” इत्यत्र “रत्यां वृत्तिः” इति पाठे
तु—रत्याम्—अनुरागे, वृत्तिः, वर्त्तनम् इत्यर्थः] शृङ्गारः,—
तदाख्यरमः, उच्यते—कथ्यते । पूर्वोद्धेनेव शृङ्गारं लक्षयित्वा उक्त-
राद्धेन तस्य भेदद्वयमाह, संयोग इति ।—एषः तु—अयं शृङ्गारः
पुनरित्यर्थः, संयुज्यते—परस्परं मिल्यते जायापत्यौ अस्मिन् इति
संयोगः,—सम्पन्नमित्यर्थः, (सभागाः इति केचित्) विप्रलम्भ्यते
—वञ्चेरति प्रणयेन अस्मिन् इति विप्रलम्भः,—विरहः इत्यर्थः, च
इति द्विविधः,—द्विप्रकारः, मतः,—उक्तः ॥ ४ ॥

संयोगविप्रलम्भयोर्लक्षणप्रदर्शनेनपुनः सरं शृङ्गारस्य पुनः भेदा-
न्तरमाह, ताविति ।—बुधैः,—विद्वद्भिः, तौ—संयोगविप्रलम्भौ,
युक्तवियुक्तयोः,—मिलितविरहितयोः, तयोः,—दम्पत्योः,
वाच्यौ—वक्तव्यौ, भवतः,—स्तः, तत्र मिलितयोः जायापत्योः
संयोगः, विरहितयोश्च विप्रलम्भः इत्यर्थः । एषः,—उक्तरूपः
संयोगविप्रलम्भभेदेन द्विविधः शृङ्गारः, पुनः प्रच्छन्नः,—गूढः,

प्रकाशः,—प्रकटश्च, इति द्विधा—द्विप्रकारः, मतः,—कथितः ।
तत् एवं चतुर्विधः शृङ्गारः ; तथा हि,—प्रच्छन्नसंयोगः, प्रकाश-
संयोगः, प्रच्छन्नविप्रलम्भः, प्रकाशविप्रलम्भश्चेति ; क्रमशः तदुदा-
हरणानि यथा,—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमित दृष्टिः कृता पादयो-

स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।

पाणिभ्याञ्च तिरस्कृतः सपुलकः खेदोद्गमो गण्डयोः

सख्यः । किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चकं सन्धयः ? ॥ १॥

तत्रादौ प्रच्छन्नसंयोगस्योदाहरणं यथा, तदिति ।—हे
सख्यः !—भोः सहचर्य्यः ! मुखं—वदनं, समेतिं भावः, तस्य—
कान्तस्य इत्यर्थः, वक्त्रं—वदनं, तस्य अभिमुखं—सम्मुखम्,
आभिमुख्येन स्थातुम् उत्सुकमपि इति भावः, विनमितं—नस्त्री-
कृतम्, अव' कृतमित्यर्थः ; दृष्टिः,—नयनं, चक्षुःसंयोग इत्यर्थः,
पादयोः,—चरणयोः, कृता—निक्षिप्ता इत्यर्थः ; तस्य आलापि
—सम्भाषि, सम्भाषणश्रवणे इत्यर्थः, यत् कुतूहलं—कौतुकं,
श्रवणौत्सुक्यमिति यावत्, तेन आकुलतरे—अतिव्याकुले,
अत्यासक्ते इति यावत् ; श्रोत्रे—कर्णौ, मदीयाविति भावः,
निरुद्धे—अङ्गुलिभ्याम् अवरोधं नीति, तथा गण्डयोः,—कपो-
लयोः, आत्मन एवेति भावः, सपुलकः,—सरोमाञ्चः, खेदोद्गमः,
—धर्ममलिलोद्रेकः, कान्तसंसर्गात् सात्त्विकभावोद्रेकजन्य
इति भावः, पाणिभ्यां—स्वायाभ्यां हस्ताभ्यां, तिरस्कृतश्च,—
आच्छादितश्च, सङ्गोपायितश्चेत्यर्थः, मया इति द्वितीयपादस्यं
कर्तृपदं सर्वत्र योज्यम् ; किन्तु कञ्चुके—गात्रावरणे, स्तनाव
रके कञ्चुलिकाख्यवस्त्रभेदे इति यावत्, सन्धयः,—संश्लेषाः,
परस्परसंन्यसम्बन्धाः इत्यर्थः, पुनः पुनः संयमिता अपि इति
भावः, यत् शतधा—शतकृत्वः इत्यर्थः, यान्ति—अप्रगच्छन्ति,

अथतामिति शेषः, विस्मयन्ति इति यावत्, अत्र किं कर-
याणि —कमुपायं विदधानि ? तस्मिन् प्रवलमानप्रकटनाथं
युष्माभिरुपदिष्टं सर्वमेवानुष्ठितं, परन्तु रागातिरेकात् यत्
स्तनादितो वसनस्खलनं जायते, तत् कथमपि निरोद्धुं न
शक्यते, कोऽत्रोपायः ? इति भावः । अत्र कयाचित् मानिन्या
तत्तन्मया सन्धानां उपदेशेन सर्वाणि मानोचितानि कार्याणि
कथमपि कृतानि, परं रमातिरेकात् कञ्चकमन्थिरक्षणं कथ-
मपि कर्तुं न पारितम् । अत्र नायकनायिकयोरुभयोः
संयोगोऽपि केवलं नायिकायाः स्वेदपुलकादिरूपस्य सार्त्त्वक-
भावस्यैव वर्णितत्वात्, सञ्चार्य्यदीपनादीनां रसव्यञ्जकानां
भावानामस्फुटत्वेन प्रच्छन्नतया प्रच्छन्नसंयोगशृङ्गारमङ्गतिः ।
[यथा वा, —“दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाह्व नतावसयाः
सङ्क्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रसृष्टे इव । मध्य पाणि-
मितो नितम्ब जघन पादावुदयाङ्गुली कन्दो नर्त्तयितुर्यथैव
मनसः सृष्टं तथाऽस्या वपुः ॥” अत्र मालविकाऽभिलाषिणा
अग्निमित्रेण आलम्बनविभावस्य मालविकाया एव वर्णनं
कृतम्, औत्सृक्यप्रभृतयः व्यभिचारिभावाः, नेत्रविकाशादयः
अनुभावाश्चात्र आचित्र्येनाक्षिप्यन्ते इति रसव्यञ्जकानां तेषा-
मस्फुटतया संयोगशृङ्गारस्य प्रच्छन्नत्वमङ्गतिः] । शार्दूल-
विक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता नेत्रैर्विनेन्दोवरेः

पुष्पाणां प्रकरः स्मृतिन रचितो ना कुन्दजाल्यादिभिः ।

दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरणार्थ्यो न कुम्भाभसा

स्वैरवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्वरा कृतं मङ्गलम् ॥ २ ॥

अथ प्रकाशसंयोगस्योदाहरणं यथा, दीर्घाति ।—तन्व्या—
कृशाङ्गा रमण्या इत्यर्थः, स्त्रैः एव—निजैः एव, अवयवैः,

—नयनवदनपयोधरादिभिरङ्गैरित्यर्थः, विशतः, -प्रविशनः, आगच्छत इत्यर्थः, प्रवामात गृहमिति शेषः, प्रियस्य—कान्तस्य, मङ्गलं—माङ्गलिकानुष्ठानम् इत्यर्थः, कृतं—विहितम्, केन किं कृतम् ? इत्याह, दीर्घेति।—इन्दोवरैः,—नीलोत्पलैः, विना—नृते, इन्दोवरमन्तरणापीत्यर्थः, नेत्रैः,—लोचनैः, दीर्घा—आयता, वन्दनमालिका—वन्दनाय—प्रणामार्थं, पूजोपायनार्थमिति यावत्, मालिका—स्रक्, विराचिता—कल्पिता ; तथा, स्मितेन—ईषदस्मितेन, पुष्पाणां—कुसुमानां, प्रकरः,—स्तवकः, रचितः,—कल्पितः, किन्तु कुन्दजात्यादीभिः,—तत्तटाख्यपुष्पविशेषैः, नो—न, (“अभावे नञ्च नो नाऽपि” इत्यमरः) रचितः इति पूर्वण्ये अन्वयः ; स्वेदमुचा—स्वेदमलिलस्राविणा, कान्ताननदर्शनजनितमात्त्वकभावविर्भावेण इति भावः, पयोधरभरण—स्तनोच्छ्रायेण, अर्घ्यैः,—अर्घ्याय दीयमानं जलं, दत्तः,—अर्पितः, कुम्भाभ्रमा—कलसवारिणा, न, दत्तः इति पूर्वण्ये अन्वयः ; एषा हि लौकिकरीतिः यत् प्रवासप्रत्यागतं प्रियजनं तत्स्वजनाः पुष्पमाल्य-पुष्पस्तवकाध्यादिकं दत्त्वा संवर्द्धयन्ति, अत्र तु तरुणा प्रवासादागतं प्रियं संवर्द्धयितुं लौकिकपुष्पादिकं किञ्चिदनुपादयैव स्वन्दोवरनयनस्य दीर्घकटाक्षश्रेण्या उपहारमालिकाम्, आन्तरानन्दोत्पलस्मितेन पुष्पस्तवकं, सत्त्वेद्रेजजनितस्वेदजलस्राविणा पीनोन्नतस्तनकुम्भेन अर्घ्ये नम्याद्य त संवर्द्धितवतीति निष्कर्षः । अत्र नायकरूपेणालम्बनावभावेन, विशालनयनविक्षेपरूपेणानुभावेन, स्वेदरूपेण मात्त्वकभावेन, हास्येन च व्याभचारिभावेण, स्थायिभावः रतिः परिपोषं नीतेति शृङ्गारसतामुपैति ; स च शृङ्गारः नायिकायाः प्रवासागतकान्तेन संयोगात् संयोगरूपः, रसव्यञ्जकानामनुभावादीनां सर्वेषामेव स्फुटतया च प्रकाश-

संयोगशृङ्गारमङ्गतिः । [यथा वा,—“शून्यं वामगृहं विलोक्य
गयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं
निर्व्वर्ग्यं पत्युर्मुखम् । विस्रब्धं परिचुस्व्य जातपुलकामालोक्य
गण्डस्थलीं लज्जानम्रमुखीं प्रियेण हसता बाला चिरं
चुस्विता ॥” अत्र नायकरूपेणालम्बनविभावेन, शून्यगृहादि-
रूपेणोद्दीपनविभावेन, मुखनिर्व्वर्गेणचुस्वनादिरूपेणानुभावेन,
लज्जाहामादिरूपैर्व्याभिचारिभिर्भावैश्च स्थायिभावस्य रतेः परि-
पोषात् दम्पत्याः मियःसंयोगाच्च संयोगशृङ्गारमङ्गतिः ; स च
रमयञ्जकानां विभावादानामत्यन्त स्फुटतया प्रकाशसंयोगः] ।
गार्हलविक्तीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

कावेरीतीरभूमोरुहभुजगवधुभुक्तमुक्तावशिष्टः

कर्णाटीचीनपीनस्तनवसनदशान्दोलनस्यन्दमन्दः ।

लीनल्लाटोललाटालकललितलतालास्यलीलाविलोलः

कष्टं भोः ! दाक्षिणात्यः प्रसरति पवनः पात्यकान्ताकृतान्तः ॥ ३ ॥

अथ प्रच्छन्नविप्रलम्बशृङ्गारस्योदाहरणं यथा, कावेरीति ।
—कावेर्याः,—तदाख्याया नद्याः, तीरि—तटे, ये भूमोरुहाः,
—वृक्षाः, [भूम्यां रोहन्ति ये ते भूमोरुहाः, इति भूम्युपपदात्
रोहतेः कः] तेषु स्थिताः याः भुजगवध्वः,—भुजङ्गाः, ताभिः
आदौ भुक्ताः,—अशितः, पश्चात् मुक्ताः,—त्यक्ताः, अत एव अव-
शिष्टः,—भुक्तातिरिक्तः इत्यर्थः ; तथा, कर्णाटीनां—कर्णाट-
देश्याङ्गनाना, चीनानि—चीनदेशीयानि, तद्देशजाततया अति-
सूक्ष्माणि इति भावः, (“चीनदेशांशुकवीहिमेदे तन्ती मृगा-
न्तर” इति मीदनी) पीनस्तनयोः,—स्थूलपयोधरयोः, वस-
नानि—स्तनावरणवस्त्राणि, तेषां दशाः,—अञ्चलानां, तामासु
आन्दोलनं—मञ्चालनं, यः स्यन्दः,—सञ्चारः, प्रवहणमित्यर्थः,
तेन मन्दः,—मृदुः ; तथा, लोलन्तः,—इतस्ततः स्फुरन्तः,

लाटीनां—लाटदेशीयाङ्गनानां, ललाटेषु—भालस्थलेषु, ये
 अलकाः,—चूणकुन्तलाः, ते एव ललितलताः,—मनोहारिण्यः
 व्रतव्यः, तामां लास्यलीलया—नर्तनक्रीडया, विलील',—
 चञ्चलः, दक्षिणात्यः,—दक्षिणदेशात् आगतः, मलयजः इति
 यावत्, पवनः,—वायुः, पाय्यानां—पत्रिकानां, प्रोषितानाम्
 इत्यर्थः, याः कान्ताः,—रमण्यः, प्रोषितभर्तृकाः इत्यर्थः, तामां
 कृतान्तः,—यमः, अत्युद्दीपकत्वात् प्राणापायहेतुः इति यावत्,
 प्रसरति—वहति, भोः ! इति आत्मासन्तुष्टे, कष्टम् इति खेद-
 सूचकमव्ययम् । अत्र केवलं विरहिण्या उद्दीपनाविभावरूपस्य
 तादृशपवनस्य तथा प्रोषितनायकरूपालम्बनविभावस्य वर्णनात्,
 तथा रतिपाषकानुभावादीनाम् आक्षेपतो ज्ञानम् इति तेषा-
 मव्यक्तत्वात् प्रच्छन्नविप्रलम्भसङ्गतिः । [यथा वा,—“कान्तं
 कान्तं कृपापूर्णं सन्देशं नय मे सखि ! । अनुकम्पापरीतोऽपि
 गेहं नायाति सत्वरम् ॥” अत्र नायकरूपस्य आलम्बनविभाव-
 मात्रस्य वर्णेन, रतिपाषकाणामनुभावादीनान्तु आक्षेपतो बाधः
 इति तेषामस्फुटतया प्रच्छन्नविप्रलम्भसङ्गतिः] । स्रग्धरा
 वृत्तम् ॥ ३ ॥

कथमपि सखि ! क्रीडाकोपाद् व्रजति मयोदिते

कठिनहृदयस्यक्ता शय्यां बलाद्गत एव मः ।

इति मरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतष्टुणे सृष्ट्वां

पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति, करोमि किम् ? ॥ ४ ॥

अथ प्रकाशविप्रलम्भशृङ्गारस्योदाहरणं यथा, कथामिति ।—
 सखीं प्रति कस्याश्चिद् विरहिण्याः उक्तिरियम् । हे सखि !—हे
 वयस्ये ! मया कथम् अपि—कुतश्चित् अपीत्यर्थः, क्रीडाकोपात्
 —परिहामरोषात्, प्रणयकलहात् इत्यर्थः, व्रज—त्वमितो-
 गच्छ, इति—इत्यम्, उदिते—कथिते सतीत्यर्थः, कठिनं—

निर्देयः, हृदयं—चितः, यस्य तथाभूतः, निद्रान्तःकरणः इति यावत्. सः, समत्क्रान्तः इत्यर्थः, बलात्—बलमाश्रित्य, [इति ल्यब्लोबि पञ्चमो] मया हस्ते धृतोऽपि बलपूर्वकं हस्तमाच्छ्रित्य इति यावत्, गत्यां—गयनं, त्यक्त्वा—उज्झित्वा, गतः,—प्रस्थितः एव, [अत्र स्वायोगव्यवच्छेदायैक एवकारः, तेन, मया बहुशः कृतानुनयोऽपि गमनात् कथमपि न प्रतिनिवृत्त इत्यर्थो लभ्यते] इति—एव, सरभस—सविगं, सहसत्यर्थः, ध्वस्तः,—निरस्तः, खण्डित इति यावत्, प्रेमा—प्रणयातिशयः येन तथाभूतः, अत एव व्यपितृणे—व्यपिता—विशेषण अपगता, घृणा—दया यस्य तस्मिन्, (“घृणा दयाऽनुकम्पा स्यात्” इत्यमरः) निर्देय इत्यर्थः, तस्मिन् इति शेषः, हतब्राह्म—हता—नष्टा, ब्राह्म—लज्जा यस्य तं, नष्टवपमित्यर्थः, निर्लज्जम् इति यावत्. चितः,—चित्तं, मदीयम् इति भावः, पुनः अपि—भूयोऽपि, ईदृशप्रत्याख्यानात् परमर्पाति यावत्, स्पृहाम्—अभिलाषं, तत्प्राप्त्यर्थमिति भावः, करोति—जनयतीत्यर्थः, अत्र किं करोमि ?—कमुपायं विदधामीत्यर्थः । अत्र नायकरूपेण आलम्बनविभावेन, क्रीडाकोपरूपेण उद्दीपनविभावेन, चित्त-स्पृहारूपेण अनुभावेन, निर्देय-निर्लज्जत्वादिरूपेण च व्यभिचारिभावेण स्थायिभावः रतिः परिपोषं नीतिति शृङ्गार एवात्र रसः, स च नायकनायिकयोः भिन्नस्थानस्थत्वेन विप्रलम्भरूपः, तस्यापि विभावादिरसव्यञ्जकभावानां स्फुटतया प्रकाशनात् अत्र प्रकाशविप्रलम्भसङ्गतिर्वाध्या । [यथा वा,—“त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतितं यावद्विच्छामि कर्तुम् । अस्मैस्तावत् मुहुरपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे कृरस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥” अत्र नायिकारूपेण आलम्बनविभावेन, तत्प्राणकोपरूपेणोद्दीपनविभावेन

चरणपातिच्छारूपेण अनुभाविन, कृतान्तासूयारूपेण व्यभि-
चारिभावेण च, स्थायिभावः रतिः परिपोष नीतीति शृङ्गारः
रसः ; स च यत्न-तत्पत्न्योः भिन्नदेशस्यत्वेन विप्रलम्भरूपः ,
एवञ्चात्र रसव्यञ्जकानां विभावादीना स्फुटतया प्रकाशविप्र-
लम्भशृङ्गाररसमङ्गतिः] । हरिणी वृत्तम्,—“न समरसला गः
षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता” इति च तत्तत्क्षणम् ॥ ४ ॥

यथा वा,—

श्रीखण्डकर्पूरसृणालमालाशीतोपचारैः सखि ! किं ममेतैः ।

दाहो न देहात् परिवर्तते मे तं स्खैरिणं वैरिणमन्तरेण ॥ ५ ॥

प्रकाशविप्रलम्भस्य उदाहरणान्तरमाह, श्रीखण्डेति ।—हे
सखि ! सहचरि ! मम—मे, एतैः,—एभिः, अवानीतैरित्यर्थः,
श्रीखण्डः,—चन्दनं, कर्पूरं—स्वनामख्यातः सुगन्धिद्रव्य-
विशेष इत्यर्थः, सृणालमाला—विमलक, ते एव शीतोप-
चाराः,—शैत्यप्रक्रियाः, तैः, किम् ?—किं फलम् ? न किमपि
इत्यर्थः ; शीतोपचारत्वेन अतिप्रसिद्धानां सर्वेषामेवैषां प्रवल-
विरहानलमन्तापि गात्रे प्रयुक्तानामपि तापोपशमनामम-
र्यात् व्यथत्वमेवेति भावः, कुत इत्याह, तस्मिन् । तं—मत्पीड-
कत्वेन प्रसिद्धं, स्खैरिणं—स्वेच्छाचारिणं, मम सुखदुःखयोर-
विचारकमिति यावत्, अत एव वैरिणं—शत्रुभूतं, कान्तम्
इति शेषः, अन्तरेण—विना, तद्विरहादित्यर्थः, दाहः,—
कामानलमन्तापः, देहात्—शरीरात्, ममेति शेषः, न परि-
वर्तते—न अपगच्छति इत्यर्थः, अन्तर्ज्वलद्विरहानलमन्ताप-
नाशार्थं वह्निःशीतोपचारः न किमपि फलमुत्पादयितुमर्हतीति
भावः । अत्र कान्तरूपेण आलम्बनविभावेन, श्रीखण्डादि-
रूपेण उद्दीपनविभावेन, दाहरूपेण च सञ्चारिभावेण, स्थायि-
भावः रतिः परिपोष नीता इति शृङ्गारः रसः, स च पक्षिपदयोः

नयकलक्षणम् ।

रूपसौभाग्यसम्पन्नः कुलीनः कुशलो युवा ।

अनुव्रतः सृनृतगीः ख्यातो नेताऽत्र सद्गुणः ॥ ६ ॥

भिन्नदेशस्थत्वेन विप्रलम्भाख्यः, तथाचात्र रसव्यञ्जकानां आलम्बनविभावादीनां स्फुटतया प्रकाशविप्रलम्भशृङ्गारसङ्गतिः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ५ ॥

अर्थदानीं शृङ्गाररमानुकूलं नायकं लक्षयति, रूपेति ।—रूपं—लोन्दर्यं, सौभाग्यं—वाञ्छ्य, ताभ्यां सम्पन्नः,—युक्तः, कुलीनः,—सत्कुलप्रसूतः, कुशलः,—कार्यसमाधननिपुणः, कामक्रोडादिकोर्वदः इत्यर्थः, युवा—तरुणः, अशेषयौवनलक्षणाक्रान्त इति यावत्, अनुव्रतः,—औद्धत्यरहितः, विनात इत्यर्थः, सृनृतगीः,—सृनृता—सत्यप्रिया, गीः,—वाणी यस्य तथाभूतः, सत्यमधुरवागित्यर्थः, (“सृनृतं मङ्गलेऽपि स्यात् प्रियसत्यवचस्यपि” इति मेदिनी) सद्गुणः,—सन्तः,—उत्तमः, गुणाः,—शोभादयः इत्यर्थः यस्य तथाभूतः, अत्र—शृङ्गाररसे, नेता—नायकः, ख्यातः,—कीर्तितः, आलङ्कारिकीरति शेषः । नायकलक्षणघटकाः सद्गुणाश्चोक्ता दर्पणे,—“शोभा विनासा माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यं तजसी । ललितोदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥” इति । तेषामपि विशेषलक्षणानि तत्रैव, यथा,—“शूरता दक्षता सत्य महोत्साहाऽनुरागिता । नीचे वृणाऽधिकं स्पृहा यतः शोभति तां विदुः ॥ धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासो सस्मितं वचः । सङ्गोभेष्वप्यनुव्रतो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ भोक्ताकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता । व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने सहत्यपि ॥ अधिक्षपापमानादः प्रयुक्तस्य परेण यत् । प्राणालयेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाह-

नायकभेदमाह,—

अयञ्च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।

धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यान्नायकाः स्युश्चतुर्विधाः ॥७॥

तम् ॥ वाग्वेशयोर्मधुरता तद्वत् शृङ्गारचेष्टितं ललितम् ।
दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥” इति ।
अयञ्च प्रथमतः धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्त-
भेदैः चतुर्विधः उक्तः ; तद्वयथा दर्पणे,—“धीरोदात्तो धीरो-
द्धतस्तथा धीरललितश्च । धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतु-
र्भेदः ॥” इति । तेषामपि विशेषलक्षणानि तत्रैव, यथा,—
“अविकल्पनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढ-
मानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ मायापरः प्रचण्डश्चपलो-
ऽहङ्कारभूयिष्ठः । आत्मस्वाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥
निश्चिन्तो सृदुरनिश कलापरो धीरललितः स्यात् । सामान्य-
गुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥” इति ॥ ६ ॥

धीरोदात्तादिचतुर्भेदभिन्नस्यापि नायकस्य पुनः चतुर्विध-
त्वम् आह, अयमिति ।—अयञ्च—उक्तप्रकारः नायकः, अनु-
कूलः, दक्षिणः, शठः, धृष्टश्च, इति—इत्थं, चतुर्धा—चतु-
ष्प्रकारः, स्यात्—भवेत्, इति विबुधैः,—परिण्डतैः, उक्तः,—
कथितः । तथा च, नायकाः,—धीरोदात्तादिभेदेन चतुर्भेदभिन्ना
नेतारः, चतुर्विधाः,—अनुकूलादिभेदेन पुनः प्रत्येकं चतुष्प्र-
काराः, स्युः,—भवेयुः । दर्पणकारा हि धीरोदात्तादिभेदेन
नायकस्य चतुर्विधं भेदं प्रथममुक्त्वा ततः परम् “एभिर्दोक्षण-
धृष्टानुकूलशठरूपभिस्तु षोडशधा” इत्युक्तवान्, तदनुसारेण
च अत्रापि धीरोदात्तादीनां चतुर्विधानां प्रत्येकम् अनुकूल-
दक्षिण-शठ-धृष्टरूपचातुर्विध्येन नायकभेदाः षोडशप्रकाराः

अनुकूलदक्षिणार्त्तलक्षणम् ।—

नीलीरागोऽनुकूलः स्यादनन्यरमणीरतः ।

दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि यः स्यादविकृतः स्त्रियाम् ॥८॥

दपेणमङ्गत्वा बोद्धव्याः । [अत्र चतुर्थपादे “नायिका स्याच्चतुर्विधा” इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते, तत्र,—एवञ्च नायकानुसारं नायिका—नेत्रो अपान्यर्थः, चतुर्विधा—चतुष्प्रकारा, स्यात् भवेदित्यर्थः] ॥ ७ ॥

एकेनैव श्लोकेन अनुकूलं दक्षिणञ्च नायकं लक्षयति, नीलाति ।—नालो—“न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनागतम् । तं नीलारागमाख्यान्ति यथा आरागमातयोः ॥” इत्युक्तलक्षणा प्रातिः एव, रागः,—अनुरागः यस्य तथाभूतः : यदा,—नीलो—नील इति नाम्ना प्रसिद्धः रागविशेषः, तद्वत् रागः,—रञ्जनं, प्रीतिरिति यावत्, यस्य सः, नीलो रञ्जनयत् यस्य अनुरागः चिरस्थायी भवतीति भावः, तथा अनन्यरमणीरतः,—अन्यस्यां—स्वाश्रितभिन्नायां, रमण्यां—स्त्रियां, न रतः,—न आसक्तः, स्वेतरकामिन्यनासक्त इत्यर्थः, एकस्याम् एव कामिन्यां प्रणयी इति यावत्, अनुकूलः,—तदास्यः नायकभेदः, स्यात्—भवेत्, तथा उक्तञ्च दपेणे,—“अनुकूल एकविरतः” इति । अनुकूलं लक्षयित्वा दक्षिणं लक्षयति, दक्षिण इति ।—यश्च—यो हि, अन्यस्याम्—अपरस्यां, स्वाभिन्नायां रमण्यामित्यर्थः, चित्तं—मनः यस्य तथाभूतः अपि, अपरकामिन्यामासक्तः सन्नपि इत्यर्थः, स्त्रियां—रमण्यां, स्त्रीमात्रे इत्यर्थः, अपराशु द्वित्रिचतुःसङ्ख्याकास्वपि नायिकासु इति यावत्, अविकृतः,—समानानुरागः इत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, सः दक्षिणः,—दक्षिणनामा नायकः, कथ्यते इति शेषः ; तथा उक्तञ्च दपेणे,—“एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः” इति ।

अत्र अनुकूलोदाहरणं यथा दर्पणे,—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः ।
किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

अस्यार्थो यथा,—कान्तवाङ्मयं प्रकटयन्त्याः कस्याश्चित् सखीं
प्रत्युक्तिरियम् । हे सखि !—सहचरि ! अस्माकं—नः, [अत्र
बहुवचनम् आत्मनः कान्तवाङ्मयाधिक्यव्यञ्जनार्थम् ; यद्वा,—
“अस्मदो द्वयोश्च” (१।२।५८ पा०) इति सूत्रेण अस्मच्छब्दात्
एकत्वार्थे बहुवचनमिति बोध्यम्] वाससी—वस्त्रे, परिधेयवसन-
मुत्तरीयश्चेत्यर्थः, न रुचिरे—न रमणीये, ग्रैवेयकं—ग्रीवाभरणं,
कण्ठपरिहितो हार इति यावत्, न उज्ज्वलं—रत्नविरहिततया
न भास्वरमित्यर्थः, गतिः,—गमनं, नो—न, वक्रा—कुटिला,
सविलामा इति यावत्, हसितं—हास्यं, न उद्धतम्—उत्कटम्,
उच्चैरित्यर्थः, कश्चित्—कोऽपि, मदः,—तारुण्यादिजनितमनो-
विकारोऽपि, [तथाच दर्पणकारः,—“मदो विकारः सौभाग्य-
यौवनाद्यवलेपजः” इति] नैव अस्ति—नैव विद्यते, किन्तु—
तथाऽपीत्यर्थः, अन्येऽपि—अपरेऽपि, अनात्मीया अपि इत्यर्थः,
जनाः,—लोकाः, किं पुनरात्मीया इति भावः, अस्याः,—
कामिन्याः, प्रियः,—कान्तः, सुभगोऽपि—सुन्दरोऽपि, मनोज्ञो-
ऽपीत्यर्थः, अभिलाषमात्रेणैव, कान्तान्तरवशीकरणक्षमोऽर्पाति
यावत्, अन्यतः,—अन्यस्यां कस्यामपि कामिन्यामित्यर्थः, दृष्टिं
—नेत्रं, न निक्षिपति—पातयति, इति—इत्थं, मां लक्ष्यी-
कृत्येति शेषः, वदन्ति—कथयन्ति, परस्परमालपन्तीति भावः,
इयता—अनेन कथनेनेत्यर्थः, विश्वं—जगत्, दुःस्थितं—दुःख-
भाराक्रान्तम्, मन्यामहे—तर्कयामः ; जगति अहमेव केवलं

प्रियवान्नभ्यसुखत अनुभवामि, न त्वपरा कापि, कथमन्यथा
मामिव लब्धोक्त्य मञ्जोन्ता एवमालोचयन्तांति निष्कृष्टाभि-
प्रायः ।* अत्र नायकस्य अनन्यरमणोरतत्वात् अनुकूलत्वम् ।
गातृलविक्रीडितं वृत्तम् ।

दक्षिणोदाहरणं यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
द्युते रात्रिरियं जिता कमलया देवा प्रमाद्याऽद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमृदमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

अस्यार्थो यथा, —अन्तःपुरचारिणः कस्याप्याप्तस्याक्तिरियम् ।
कुन्तलेश्वरसुता—कुन्तलाख्यदेशाधिपतेस्तनया, स्नाता—ऋतु-
स्नाता सती इत्यर्थः, तिष्ठति—वर्त्तते, पतिं प्रतीक्षते इत्यर्थः,
अतः सा अवश्यगम्या इति भावः ; अङ्गराजस्वसुः,—अङ्ग-
देशाधीश्वरस्य भगिन्याः, वारः,—तद्गृहे गमनस्य पर्यायेणागतो
दिवसः इत्यर्थः, सुरतार्थं नियमितदिनमिति यावत्, अतः
साऽपि अपरिहार्या इति भावः ; कमलया—तदाख्यया
कयाऽपि महिष्या, इयम्—उपस्थिता, वर्त्तमानेत्यर्थः, रात्रिः,
—रजनी, द्यूतैः,—अक्षैः, राज्ञा सह द्यूतक्रीडनैरित्यर्थः,
जिता—पणत्वेन आयत्तीकृत्येत्यर्थः ; राज्ञा कमलया सह द्यूत-
क्रीडाकाले एवं प्रतिज्ञातं, यत् यद्यहं क्रीडायां पराभूतः
स्यां, तदा अद्य त्वयैव सार्द्धं सुरतक्रीडया रात्रिं यापयिष्यामि
इति, ततश्च क्रीडायाममी पराजितः, तेन चेयं रजनी कमलया
पणरूपेण जिता इति निष्कृष्टार्थः, देवी च—कृताभिषेका
प्रधाना राज्ञो अपोत्यर्थः, (“देवी कृताभिषेकायाम्” इत्यमरः)
अद्य—अस्यामिव रात्रौ, प्रमाद्या—अनुनेया, देवेनेति शेषः,
स्वयं कृतापराधत्वादिति हृदयम् ; अयम्भावः,—“ऋतौ

शठष्टयीलक्षणमाह,—

प्रियं वक्तव्यप्रियं तस्याः कुर्वन् यो विकृतः शठः ।
धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्ष्योऽवमानितः ॥६॥

भाष्योमुपेयादेव” इति विधिवाक्यात् प्रथमम् ऋतुस्नातैव ताव-
दनुपेक्षणीया किमुतकुन्तलेश्वरसुता ; नयनियतः साधारणोऽपि
समयः दुर्लङ्घ्यः, किमुताङ्गनाथस्वसृसमीहितन्यायागतसमा-
गमसमयः ; सामान्येऽपि जये विजितस्य परतन्त्रता किमुत-
कामिनोऽकुलललामकमलाप्रयुक्ते, इत्येवमुत्तरोत्तराधिककार्य-
सम्पातेऽपि महादेव्याः प्रसादनं तावत् सर्वोपरि तिष्ठतीति न
किमप्युपेक्षणीयमिति, इति—अस्माद्धेतोः, मया—अन्तःपुर-
चारिणा कञ्चुकिना इत्यर्थः, अन्तःपुरसुन्दरीः प्रति—शुद्धान्तः-
स्थानामङ्गनानां सम्बन्धे, [अन्तःपुरसुन्दरीरिति “अभितः-
परितः-समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि” (वा०) इति द्वितीया]
विज्ञाय—यस्याः यत् वक्तव्यं, तत् सर्वं विदित्वेत्यर्थः, विज्ञा-
पिते—निवेदिते सति, देवेन—महाराजेन, अप्रतिपत्तिमूढ-
मनसा—किंकर्तव्यविमूढचित्तेन सतत्यर्थः, द्वित्राः,—द्वे वा
तिस्रो वा इति तथोक्ताः, [द्वे वा तिस्रो वा इति
वाक्ये “सर्वनामसङ्ख्योरुपसङ्ख्यानम्” इति वार्तिकेन समासं
कृते “सङ्ख्यायाः अल्पीयस्याः” इति वार्तिकसूत्रेण द्विशब्दस्य
पूर्वनिपाति द्वित्राः इति पदं सिद्धम्] नाडिकाः,—घटिकाः,
दण्डानिति यावत्, व्याप्य इति शेषः, स्थितं, तूष्णीमिति शेषः ।
अत्र सकलनायिकामनस्तुष्टिविधानार्थं चिन्ताऽऽकुलत्वदर्शनेन,
सर्वास्वेव नायिकासु समदर्शित्वावगमात् दक्षिणत्वं नायक-
स्येति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

अथ शठं धृष्टञ्च नायकमेकेनैव श्लोकेन लक्षयति, प्रियमिति ।

—यः,—नायकः, तस्याः, कान्तायाः इत्यर्थः, अप्रियम्—
अह्वयम्; अनभिप्रेतमित्यर्थः, कुव्वन्—आचरन्, अपीति शेषः,
प्रिय—मनोऽनुकूलमित्यर्थः, वक्ति—भाषते, विवृणोति,—विवृणो-
क्तिः, विवृणोत्यापारवान् इत्यर्थः, विषकुम्भपयोमुखमदृश इति
यावत्, सः शठः,—शठनायकः, कथ्यते इति शेषः । शठं लज्ज-
यित्वा इदानीं धृष्टं लज्जयति, धृष्ट इति ।—यद्य ज्ञातापराधः,
—ज्ञातः,—विदितः, कान्त्येति भावः, अपराधः,—दोषः,
कान्तान्तरसंसर्गादिरूपानुचिन्त्यापार इति यावत्, यस्य तथा-
भूतः, अत एव अवनातितः,—निर्भर्क्षितः, अनादृतः सन्नप्री-
त्यर्थः, न विलज्जः,—न लज्जितः, भवतीति शेषः, सः धृष्टः,—
धृष्टनामा नायकः, कथ्यते इति शेषः ।

शठोऽपराधः यद्यपि दर्शयेत्,—

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितसाकण्यं सहसा

यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।

तदेतत् काचक्षेष्टमधुमयत्वङ्महवचो-

विषेणाघूणन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥

अस्यार्थो यथा,—दुःस्वितया कयाचिन्नायिकया नायक-
मुपानब्धुं प्रेषितायाः कस्याश्चित् दूत्या उक्तिरियम् । हे शठ !
—प्रतारक ! आश्लिष्यन्नेव—आलिङ्गन्नेव, मत्सखीमिति शेषः,
अन्यस्याः,—अपराया, मत्सखीभिन्नाया नायिकायाः इत्यर्थः,
काञ्चीमणिरणितं—काञ्चरां—रशनायां, ये मणयः,—काञ्ची-
निखचितानि रत्नानि इत्यर्थः, तेषां रणितं—निक्कणं, घनजघन-
सञ्चालनेन परस्परमङ्घ्रिर्षणजनितमिति भावः, आकण्ठ्य—श्रुत्वा,
सहसा—भट्टिति, तत्क्षणमेवेत्यर्थः, आलिङ्गनावसर एवेति
यावत्, यत् प्रशिथिलभुजग्रन्थिः,—प्रशिथिलः,—अत्यन्तं श्लथः,
सर्वथा संस्त्रस्त इत्यर्थः, भुजयोः,—बाह्वोः, ग्रन्थिः,—बन्धन-

मिति यावत्, यस्य तादृशः, संश्लथबाहुबन्धन इत्यर्थः, अभवः,
— आसीः, अकस्मादन्यकामिनीकाञ्चीध्वनिमाकर्ष्य तां प्रति
चेतसः प्रवृत्तेः, त्वं यत् प्रक्रान्तलिङ्गनस्य भङ्गं कृतवन्ममीति
निष्कृष्टार्थः, तदेतत्—तदिदं, तव उक्तरूपमप्रियाचरण-
मित्यर्थः, हा—कुत्र, कस्याग्रे इत्यर्थः, आचक्षे—कथयामि ?
तत्कथनयोग्यं स्थानं कुत्रापि न लभे इति भावः ; घृतमधुमयं
—घृतमधुरूपं, घृतमधुमदृशमिति यावत्, यत् त्वद्बाहुवचः,—
तव बहुजल्यनम्, अनुनयार्थमिति भावः, तदेव विषं—गरलं,
घृतमधुनीरापाततः अमृतवदास्वादवत्त्वेऽपि यथा पश्चात् विष-
वदनिष्टकरत्वं जायते, तद्वत् तव वचनमप्यापाततः श्रुतिरम-
णीयमपि पश्चात् मनःपीडाद्यनिष्टाचरणेन अयथार्थप्रातभासात्
विषतुल्यमित्याशयः, तेन, घृतमधुवदापातमधुरभवदीयवाक्य-
विषणेत्यर्थः, आघूर्णन्ती—परिभ्रास्यन्ती, घर्णेद्देहा इति यावत्,
मे—मम, सखी—सहचरी, किमपि—किञ्चिदपि, हितमहितं
वा इति भावः, न गणयति—न अवधारयति । अत्र अन्यस्यां
नायिकायां समुत्पन्नानुरागस्य नायकस्य एतस्यां विविधाप्रय-
भाषणालिङ्गनादिना वहिर्दृष्टानुरागस्यापि गूढं विप्रयानु-
ष्ठानात् शठत्वसङ्गतिर्बोद्धा । शिखरिणी वृत्तं,—“रमैरुद्रैश्छिन्ना
यमनसभलागः शिखरिणी” इति लक्षणात् ।

घृष्टादाहरणमपि यथा तत्रैव,—

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः

पादेन प्रहृतं तया सपदि तं धृत्वा सहासे माय ।

किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया वाप्य त्यजन्त्याः सखे !

ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

अस्यार्थो यथा,—प्रवासे सखायं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् ।
हे सखे !—वयस्य ! कृतापराधोऽप्यहमित्यादिः, मुखं—वदनं,

नायिकाभेदसाह.

अनृढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।

त्रिवर्गिणः स्वकीया स्यादन्याः केवलकामिनः॥१०॥

कान्ताया इति शेषः, शोणं--रक्तं, मयि कोपादिति भावः, वीक्ष्य--दृष्ट्वा, अपीति शेषः, विचुम्बितुं--तदधरासृतं पातु-मित्यर्थः, समीपं -निकटं, तस्या इति शेषः, यातः, -गतः, ततः,--मम तत्समीपगमनानन्तरमेवेत्यर्थः, तथा--सत्कान्तया इत्यर्थः, कुपितया इति भावः, पाटनं--चरणेन, प्रहृतं--ताडितं, मयि पादप्रहारः कृतः इत्यर्थः, सपाटि--तत्क्षणमेव, पादप्रहारमसकालमेवाति भावः, तं--पादं, धृत्वा--गृहीत्वा, मयि--एवमवमानिते सत् पात्यर्थः, सहासे--हसति मतीत्यर्थः, तत्र--तस्मिन् पादाकर्षणविषये इत्यर्थः, किञ्चित्--किमपि, विधातुं--कर्तुम्, अक्षमतया--असमर्थतया, वाष्पं--नयन-जलं, त्यजन्त्याः,--मुञ्चन्त्याः, वामभ्रुवः,--सुभ्रुवः, सुन्दर्याः सतिप्रयाया इति यावत्, कोपोऽपि--क्रोधोऽपि, किं पुनरनु-राग इति भावः, ध्यातः,--प्रवाहरूपेण चिन्तितः सन्नित्याशयः, चेतसि--मम मनसोत्यर्थः, कौतुकं--कौतूहलम्, औत्सुक्य-मित्यर्थः, वितनुते--विस्तारयति, वद्वेयतीति यावत् । अत्र कान्तान्तरमंसर्गादिरूपानुचितव्यापारानुष्ठानज्ञानात् कुपितया कान्तया सपाटताडनं कृतावमानस्यापि नायकस्य पुनः पाद-ग्रहणपुरःसरहास्योपवर्णनात् निलज्जत्वप्रतीतिरस्य घृष्टत्वसङ्गति-र्बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

नायकाभेदं तत्तद्विशेषलक्षणञ्च निरूप्य इदानीं नायिकाभेदं निर्दिशति, अनृढेति ।--अनृढा--अविवाहिता, स्वकीया--स्वीया, ऊढा इत्यर्थः, परकीया--परनारी च, पणाङ्गना--

अनूढालक्षणमाह,—

अनुरक्ताऽनुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत् ।

साऽनूढेति यथा राज्ञो दुष्मन्तस्य शकुन्तला ॥ ११

स्वकीयालक्षणमाह,—

देवतागुरुसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका ।

क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत् ॥ १२ ॥

वेष्ट्या च, इति चतुर्विधा नायिका भवन्तीति शेषः ; तत्र स्वकीया—स्वीया नायिका इत्यर्थः, चित्रगिणः,—धर्मार्थकाम-परस्य जनस्येत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ; अन्याः,—अपराः, अनू-ढाद्यास्त्रिविधा इति भावः, केवलकामिनः,—केवलं कामपरस्य जनस्य स्यात् इत्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र प्रथमतः सदृष्टान्तामनूढां लक्षयति, अनुरक्तेति ।—अनु-रक्ता—अनुरागिणी, रूपगुणादिदर्शनेन अत्यन्तमाकृष्टा इत्यर्थः, या—नायिका, अनुरक्तेन—प्रणयवता नायकेनेति यावत्, स्वयम्—आत्मनैव, तद्गुरुजनानुमतिम् अन्तरङ्गैवेत्यर्थः, स्वीकृता—गृहीता, आत्माधोनी कर्तव्येः, भवेत्—स्यात्, सा अनूढा—अविवाहिता नायिका, इति, कथ्यते इति शेषः ; यथेति उदाहरणप्रदर्शनार्थं, दुष्मन्तस्य—दुष्मन्ताभिधानस्य, राज्ञः,—नृपतेः, शकुन्तला—शकुन्तलेति नाम्ना प्रसिद्धा नायिकेत्यर्थः ; सा हि अनूढाऽवस्थायां मृगयार्थं वनं गतेन दुष्मन्तेन दृष्टा तदीयानुपमरूपयौवनलावण्यादिना सातिशयमाकृष्टेन गुरु-जनानुमतिमनपेक्ष्यैव परिगृहीता, इति अस्या अनूढात्वसङ्गति-रिति बाध्यम् ॥ ११ ॥

अत्र क्रमप्राप्तां स्वकीयां लक्षयति, देवतेति ।—क्षमावती—क्षमाशीला, भर्तृगुरुजनादिकृताप्रियसहनशीला इत्यर्थः ; अति-

गर्भीरा—अत्यन्तगर्भाद्येवता, अचञ्चला इत्यर्थः, पतिरहस्य-
गोपनगोप्ता इति यावत्, प्रकृतिः,—स्वभावः यस्याः तथाभूता,
निरतिशयधोरस्वभावित्यर्थः, नियतमचञ्चलप्रकृतिकतया या
किमपि रहस्यमन्यस्मै कस्मैचित् कथमपि न प्रकाशयति, तादृ-
शीति यावत्, सच्चरित्रभृत्—सत्—प्रशमनाय, चरित्रं—स्वभावं,
विभक्ति—धारयति या तथाभूता, सुगीला इत्यर्थः, (या) देव-
तानां—नारायणाग्निप्रभृतानां देवानामित्यर्थः, गुरुणा—
पितादिगुरुजनानाञ्च, माच्येण—प्रत्यक्षेण, तथा प्रत्यक्षदर्शित्व-
दशायाम् इति यावत्, स्त्रीकृता—वेदमन्त्रपाठपूर्वकं गृह्णता,
भवेत्, परिणेत्रा इति शेषः, [एतेन अस्या देवतामात्मिक-
त्वेन गृह्णीततया धर्माचरणसहायत्वं व्यज्यते] (मा) स्वीय-
जायिका—स्वकीया, उच्यते इति शेषः, अत्र—यथा रामस्य
सीतेत्युदाहरणम् ऊहनीयम् । यथा वा दर्पणे,—“लज्जापज्जत्त-
पसाहणाइपरभत्तिणिप्पिवासमाइं । अज्जिणअदुस्सेधाइं धम्मणं घरे
कलत्ताइ ॥” (“लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपामानि ।
अविनयदुर्मन्धानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥” इति संस्कृतम्) ।
अस्यार्थो यथा,—धन्यानां—पुण्यवतां जनानां, गृहे—भवने,
कलत्राणि—स्त्रियः, लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि—लज्जा एव—
त्रपा एव, पर्याप्तं—यथेष्टं, प्रभृतमित्यर्थः, प्रसाधनम्—अल-
ङ्कारः येषां तादृशानि, परभर्तृनिष्पिपामानि—परभर्तृषु—
परपतिषु, परपुरुषेषु इत्यर्थः, निष्पिपामानि—निष्पृहाणि,
तथा अविनये—अशिष्टव्यवहारे, प्रागल्भ्यादावित्यर्थः, दुर्मन्धानि
—मेधारहितानि, अविनयानभिज्ञानीत्यर्थः, विनोतानीति
यावत्, भवन्तीति शेषः । अत्र देवतामात्मिकपरिणीताया
नायिकायाः लज्जाविनयपातिव्रत्यादिसत्स्वभाववत्त्वात् पर-
पुरुषविरक्तत्वाच्च स्वकीयात्वसङ्गतिर्विधीया । ॥ १२ ॥

परकीयालक्षणमाह,—

परकीयाऽप्यनूढेव वाच्यभेदोऽस्ति चानयोः ।

स्वयमप्यतिकामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ॥ १३ ॥

अथ क्रमप्राप्तां परकीयां लक्षयति, परकीयेति ।—परकीया—परकीयेति संज्ञया प्रसिद्धा नायिका अपि, अनूढा इव—अविवाहिता यथा, “अनुरक्ताऽनुरक्तेन” इत्यादिलक्षणा नायिका इवेत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, अनूढालक्षणान्विता भवेदिति समुदितार्थः, किन्तु अनयोः,—परकीयाऽनूढयोः, वाच्यभेदः,—वचनीयविशेषः, यद्वा—वाच्यः,—वक्तुं शक्यः, भेदः,—अन्तरमित्यर्थः, अस्ति—विद्यते, एका—परकीया, अतिकामा—निरतिशयकामपरतन्त्रा मतीत्यर्थः, स्वयम् अपि—आत्मनापि, न केवलं सखीमुखेन, स्वमुखेनापीत्यर्थः, प्रगल्भतया इति भावः, एका—अन्या, अनूढा इत्यर्थः, सख्यैव—सखीमुखेनैवेत्यर्थः, (न तु स्वमुखेनेति एवकारव्यवच्छेदं बोध्यम्) लज्जाप्रधानतयेति भावः, प्रियं—कान्तं, वदेत्—कथयेत्, स्वाभिप्रायं प्रकाशयेदित्यर्थः ।

परकीयोदाहरणम्,—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाऽह-

मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।

किं याचसे ? तदिह वासमियं वराकी

श्वश्रूर्मान्वधिरा ननु मूढपान्थ ! ॥

अस्यार्थो यथा,—यत्—यतः, अहम् अबला—रमणी, न केवलम् अबला, किन्तु एकाकिनी—असहायेत्यर्थः, [एतेन निर्वाधविहारसम्भावना सूचिता] तत्रापि तरुणी—युवती ; [एतेन अधिकवयस्त्वसम्भावनाया मम सुरतायोग्यत्वं न शङ्क-

पण्डितानामङ्गमाह,—

सामान्यवनिता वेश्या भवेत् कपटपण्डिता ।

न हि कश्चित्प्रियस्तस्या दातारं नायकं विना॥१४॥

नौयमिति व्यज्यते] तत्रापि नाहं भर्तृमङ्गता इत्याह, अस्मि-
न्निति ।—अस्मिन्—एतस्मिन्, गृह—भवने, गृहपतिश्च—गृह-
स्वामी, एतद्गृहाधिकारी मत्पतिश्चेत्यर्थः, विदेशं—देशान्तरं,
गतः,—प्रस्थितः, [एतेन सुदार्ढ्यकालेनापि तदुपस्थितसम्भा-
वना नास्ति इति सूचितम्] वराकी—दीना, (वार्द्धकेन
आभ्यर्थाधिकार्येण चास्या वराकात्वं बोध्यं) सम—मे, इयं—
परिदृश्यमाना, श्वश्रुः,—भर्तृजननी, अन्धवधिरा—अन्धा—
दृष्टिशक्तिहीना, वधिरा—श्रुतिशक्तिहीना च, [एतेन अस्याः
समक्षम् आवाभ्यां स्वच्छन्दविहारे तथा प्रेमात्मापि कृतेऽपि
अनया द्रष्टुं श्रोतुं वा न शक्यते इति सूचितम्] तत्—ततः,
ननु—भोः ! मूढपात्य ! अविवेकिपाथिक ! इह—अस्मिन् गृहे,
किं—केन, प्रकारेणेत्यर्थः, वामं—वसतिम्, आश्रयमित्यर्थः,
याचसे, ?—अर्थयसे ? अत्र एकाकिनीत्वभर्तृविरहितत्वादिना
गृहस्य निजनेत्वकथनेन भङ्गा स्वमुखेनैव तरुणीयं पथिकस्य
स्वगृहे रात्रिवानं याचते इति अस्याः परकीयात्वमङ्गतिर्बोद्धा ।
वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

अथक्रमप्राप्तां पण्डितानां लक्षयति, सामान्येति ।—सामान्य-
वनिता—सामान्या—सवसाधारणापभोग्यत्वात् साधारणी,
वनिता—स्त्री, वेश्या—पण्डिताना, कथ्यते इति शेषः ; सा च
कपटपण्डिता—कपटे—चातुर्यं, पण्डिता—विचक्षणा, भवेत्
—स्यीत् ; तथा, दातारं—दानशीलं, बहुधनदमिति यावत्,
नायकं—कामयितारमित्यर्थः, विना—अन्तरेण, कश्चित्—कः

अपि जनः इत्यर्थः, तस्याः,—वेश्यायाः, प्रियः,—इष्टः, अभिमतः इत्यर्थः, न हि—नैव, स्यादिति शेषः ।

वैश्यादाहरणम्,—

या विचित्रविटकोटिनिष्ठया मद्यमांसनिरताऽतिनिष्ठया ।

कोमला वयसि चेतसि दुष्टा तां भजन्ति गणिकां न हि शिष्टाः ॥

अस्यार्थो यथा,—या—गणिका, विचित्राणां—नानाविधानामित्यर्थः, नराणां भिन्नप्रकृतिकत्वादिति भावः, विटानां—“वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्” इत्युक्तलक्षणानां नागरिकविशेषाणां, लम्पटानां वा, कोटिभिः,—समूहैः, बहुमङ्गलकभिन्नप्रकृतिकैरुपपत्तिभिरित्यर्थः, निष्ठया—उपमर्दिता, धर्षिता इत्यर्थः, मद्यमांसनिरता—मद्यमांसयोः अत्यामक्ता, तदशनपरायणजनमनोरञ्जनार्थं रागोद्रेकाद्यर्थं वा इति भावः, वयसि—यौवने, कोमला—सुकुमारा, सुकुमाराङ्गोत्यर्थः, तथाऽपि चेतसि—अन्तःकरणे, दुष्टा—दोषयुक्ता, निर्दया इत्यर्थः, अत एव अतिनिष्ठया—अतिहीना, अत्यधमा इति यावत्, भवतीति शेषः, तां—तादृशीमित्यर्थः, गणिकां—वेश्यां, शिष्टाः,—धोराः, शान्तप्रकृतिका नरा इत्यर्थः, न हि—नैव, भजन्ति—सेवन्ते, रमणार्थमिति भावः । स्वागता वृत्तम्,—“स्वागता रनभगैर्गुण्णा च” इति तल्लक्षणात् ।

अन्यच्च,—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च

ग्रामोणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुलाभिभूताय च ।

यच्छून्तोषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मालवयश्चया

पण्यस्त्रोषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रोषु को रज्यते ? ॥

अस्यार्थो यथा,—प्राक्गणिकाऽऽसक्ततया क्षयितसर्वस्वस्य निर्विस्वस्य कस्यचित् विरागिण उक्तिरियम् । प्रतिपदप्राधान्य

द्योतनार्थमत्र प्रतिपदोत्तरं चकारप्रयोगः । जात्यन्धाय च—
जात्या—जन्मना एव, अन्धाय—दृष्टिशक्तिहीनाय चेत्यर्थः,
जन्मनः प्रभृति अन्धतया रूपलावण्यादिर्मान्दर्यगुणाग्राहिणं
इति भावः, दुर्मुखाय च—अप्रियवादिने च, दुर्दृशेनवदनाय
वा, कटुभाषिणि विकृतवदने वा जने कथमपि अनुरागः न
सम्भवतीति भावः, जराजौर्णाखिलाङ्गाय च—जरया—वार्धकेन,
जौर्णानि—परिपक्वानि, जर्जरानौत्यर्थः, अखिलानि—सर्वाणि,
अङ्गानि—अवयवाः यस्य तस्मै, अतिवृद्धायत्यर्थः, वार्धकेन
शिथिलानाम् अङ्गानां सर्वथाऽसामर्थ्येन निधुवनविहारसम-
र्थाय इति भावः, ग्रामोणाय—ग्राम्याय, अतिदग्धाय इत्यर्थः,
ग्राम्यतया विविधसुरतकलाऽनभिज्ञाय इति भावः, दुष्कुलाय—
नीचकुलोद्भवाय च, असद्वंशजतया सदसद्विवेकशून्यत्वात् व्यव-
हारानभिज्ञायेति भावः, तथा गलत्कुष्ठाभिभूताय च—पूयादि-
स्त्राविकुष्ठरोगाक्रान्ताय अपि, तादृशकुलितरोगाक्रान्ततया
असृश्यायति भावः, (सर्वत्रैव प्रचुरधनदाय जनाय इति शिष्या
बोध्यः) लक्ष्मीलवश्रद्धया—लक्ष्मीलवस्य—धनलेशस्य, अत्यल्प-
स्त्राप्यथेस्य इत्यर्थः, श्रद्धया—आसक्त्या, लोभेनेत्यर्थः, मनाहरं—
सुकुमारं, यौवनरमणीयमित्यर्थः, निजवपुः,—स्वदेहं, यच्छन्तीषु
—अर्पयन्तीषु, पण्यस्त्रीत्वादिति भावः, विवेककल्पलतिका-
शस्त्रीषु—विवेकः,—सदसद्विचारः एव कल्पलतिका—कल्प-
व्रततिः, कामदुष्टा वल्लीति यावत्, [कल्पलता एव इति
कल्पलतिका, कल्पलताशब्दात् स्वार्थं कन्] तस्याः शस्त्रा-
—क्षुद्रशस्त्रं, छेदनार्थां कुरिका इत्यर्थः, (वेश्यानां विवेक-
विध्वंसकत्वात् तत्र कुरिकात्वारोपः बोध्यः) पण्यस्त्रीषु—पणा-
ङ्गनासु, वेश्यासु इत्यर्थः, कः—को जनः, रज्यते ?—अनुरक्तो
भवति ? न कोऽपीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

वेश्यादिनायिकानां विशेषमाह,—

सर्वप्रकाशमेवैषा याति नायकमुद्धता ।

वाच्यः प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागमः ॥१५॥

विप्रलम्भ-शृङ्गारभेदानाह,—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः ।

विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात् पूर्वः पूर्वं ह्ययं गुरुः ॥१६॥

वेश्यादिनायिकानां लज्जादिषु विशेषमाह, सर्वेति ।—
एषा—वेश्या नायिका, [वेश्याया एव प्रक्रान्तत्वात् अत्र एत-
च्छब्देन तस्या एव बोधः] उद्धता—प्रगल्भा, अविनीतवेशा
इत्यर्थः, निस्त्रपा सतीति यावत्, सर्वप्रकाशं—सर्वसमक्षम्
एव, नायकं—कान्तं, प्रार्थयितारमित्यर्थः, याति—गच्छति ।
अन्यस्त्रीणाम्—स्वकीयादीनां पूर्वोक्तानां तिसृणां नायिकानां,
प्रियसमागमः,—कान्तेन सह संयोगः, प्रच्छन्नः एव—गूढः
एव, अनन्यपुरुषसमक्षमेवेत्यर्थः, वाच्यः,—वक्तव्यः, वर्णनीयः
वा ॥ १५ ॥

शृङ्गाररसालम्बननायकनायिकाभेदानुक्ता इदानीं प्रागु-
क्तयोः शृङ्गारभेदयोः विप्रलम्भसंयोगयोः विप्रलम्भस्य भेदा-
नाह, पूर्व्वेति ।—विप्रलम्भः,—तदाख्यशृङ्गारभेदः, पूर्व्वानुराग-
मानात्मप्रवासकरुणात्मकः,—पूर्वानुरागस्वरूपः, मानस्वरूपः,
प्रवासस्वरूपः, करुणस्वरूपश्च इति भेदादित्यर्थः, चतुर्धा—
चतुर्विधः, स्यात्—भवेत् । अयं—चतुर्भेदात्मकः विप्रलम्भः,
हि—अवधारणे, पूर्वः पूर्वः,—प्रथमः प्रथमः, यथापूर्व्वमित्यर्थः,
गुरुः,—बलवान्, भवतीति शेषः ; तस्माच्च करुणात् प्रवासः,
प्रवासात् मानः, मानात् पूर्व्वानुरागः श्रेष्ठः, (दुःसहः) इति
भावः ॥ १६ ॥

पूर्वानुरागलक्षणमाह,—

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकाद्वोक्त्रमितरागयोः ।

—ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूणीसृष्टहयोर्दशा ॥ १७ ॥

तत्र क्रमप्राप्तं पूर्वानुरागमादौ लक्षयन्ति, स्त्रीपुंसयोरिति ।
—नवालोकात् एव—अभिनवदर्शनात् एव, [अत्र नवालोक-
पदं अवगणस्यापि उपलक्षणम्; तथाचोक्तं दर्पणे,—“अवगाहशे-
नादाऽपि मिथः संरूढरागयोः । दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्व-
रागः स उच्यते ॥” इति) उक्त्रमितः,—उज्जृम्भितः, उद्दीपित
इत्यर्थः, रागः,—प्रीतिः ययोः तथाभूतयोः, अभिनवदर्शनमात्र-
मेव समुज्जृम्भितपरस्परानुरागयोरित्यर्थः, किन्तु अपूर्णा—
असिद्धा, सृष्टा—अभिलाषः ययोः तयोः, अदृष्टमनोरथयाः
इत्यर्थः, स्त्रीपुंसयोः,—नायकनायिकयोरित्यर्थः, या दशा—
अवस्थाविशेषः, अयं पूर्वानुरागः,—पूर्वरागनामको विप्रलम्भः
इत्यर्थः, ज्ञेयः,—बोध्यः । अत्र च दशविधा दशा भवति,
तदाह दर्पणकारः,—“अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्देश-
सम्प्रलापश्च । उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता स्मृतिरिति दशाऽत्र
कामदशाः ॥ अभिलाषः सृष्टा चिन्ता प्राप्युपायादिचिन्त-
नम् । उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥ अलक्ष्यवाक्
प्रलीपः स्याच्चेतनो भ्रमणाद् भ्रमम् । व्याधिस्तु दीर्घ-
निश्वासपाण्डुताकृशताऽऽदयः ॥ जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां
मनसस्तथा ॥” इति ।

अचोदाहरणम्,—

“प्रेमाद्राः प्रणयस्त्रयः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृष्टे निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दार्शंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रोदयः ॥

विप्रलम्भप्रकारभेदे पूर्वानुरागे जायमानासु दशसु दशासु
 अभिलाषमुदाहरति, प्रेमाद्रा इति ।—मुग्धदृशः,—मुग्धे—
 सुन्दरे, दृशौ—नेत्रे यस्याः तथाभूतायाः, मालत्या इत्याशयः,—
 प्रेमाद्राः, प्रेम्ना—स्नेहेन, अनुरागेण वा, आद्राः,—मिक्ता,
 कोमला इत्यर्थः, प्रणयसृग्,—प्रणयं—प्रीतिं, सृशन्तीति
 तादृश्यः, प्रीतिपूर्णा इत्यर्थः, परिचयात्—पुनः पुनर्दर्शनादि-
 व्यापारादित्यर्थः, उद्गाढरागोदयाः,—उद्गाढस्य—अतिशयेन
 दृढस्य, रागस्य—अनुरागस्य, अत्यासक्तेरित्यर्थः, उदयः,—
 आविर्भावः यासु ताः, दृढानुरागशालिन्य इत्यर्थः, निसर्ग-
 मधुराः,—निसर्गात्—स्वभावादेव, मधुराः,—मनोहारिण्यः,
 ताः ताः,—अतिप्रसिद्धा इत्यर्थः, अपाङ्गविच्छेपादिरूपाः इति
 यावत्, चेष्टाः,—व्यापाराः, मयि—माधवे इत्यर्थः, भवेयुः,—
 स्युः, पुनर्भवन्तु इत्यर्थः, यासु—चेष्टासु, आशंसा—अभिलाषः,
 तथा परिकल्पितासु—सङ्कल्पितासु, सङ्कल्पविषयीभूतासु सतीषु
 इत्यर्थः, अपि क्षणात्—क्षणमात्रेणैव, मनसि उदयसमकाल-
 मेवेत्यर्थः, वाह्यकरणव्यापारोधी—वाह्यानां—वह्निभवाणां,
 करणानाम्—इन्द्रियाणाम्, चक्षुरादीनामित्यर्थः, व्यापारः,—
 स्वस्वविषयग्रहणरूपः इत्यर्थः, तस्य रोधी—अवरोधकः, वह्नि-
 रिन्द्रियविषयग्रहणव्याघातकः इत्यर्थः, अन्तःकरणस्य—अन्त-
 रिन्द्रियस्य, मनस इत्यर्थः, आनन्दसान्द्रोदयः,—आनन्दस्य—
 हर्षस्य, सान्द्रः,—निविडः, पूर्ण इत्यर्थः, उदयः,—आविर्भावः,
 गाढानन्दात्पत्तिरित्यर्थः, भवति—जायते । अत्र मालत्याः
 साक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्य अभिलाषः सम्पूर्णरूपेणैव
 अभिव्यक्तः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अन्यच्च,—

कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षात्क्षीं मनोभुवः ।

इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥

विप्रलम्भप्रकारभेदे पृथ्वानुरागे जायमानावस्थाविशेषरूपां
चिन्तामुदाहरति, कथमिति ।—मनोभुवः,—मनसः,—अन्तः-
करणात्, भूः,—उद्भवः, यस्य तथोक्तस्य, कामस्येत्यर्थः, मात्ता-
—सूक्तिमतीमित्यर्थः, लक्ष्मी—श्रीस्वरूपिणीमित्यर्थः, मात्ता-
द्रतिस्वरूपिणीमिति यावत्, कुरङ्गाक्षी—मृगनयनां, तां
रमणामिति शेषः, कथं—केनोपायनेत्यर्थः, ईदृशे ?—पश्यामि ?
इति चिन्तया—स्मृत्या, एतद्विषयकध्याननेत्यर्थः, आकुलः,—
व्याकुलः, कान्तः,—प्रियः, नायकः इत्यर्थः, निर्गोथिनी—
रजनीं व्याप्येत्यर्थः, [अत्र अत्यन्तसंयोगं द्विताया] निद्रां—
स्वप्नं, न एति—न गच्छति । अत्र कान्तादशेनोक्तं य
नायकस्य तदेकतानतालक्षणचिन्तारूपः पृथ्वानुरागा-
विशेषो दर्शितः । पथ्यावक्तं वृत्तम् । अपरञ्च ।—

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं

निमील्य नत्र सहसा व्यवध्यत ।

क्व नीलकण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्यवाक्

असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥

अथ पृथ्वेरागावस्थाविशेषं प्रलापमुदाहरति, त्रिभागमिति ।
—अत्र पाव्वेतीति कर्तृपदं प्रथमत एव अध्याहर्तव्यम् ।
तृतीयो भागः इति त्रिभागः, [क्वचित् सङ्ग्राह्यस्य वृत्तिविषये
पूरणार्थत्वमिष्यते इति बाध्यम्] सः एव शेषः अवशेषः यासां
तासु, तृतीयभागावशिष्टासु इत्यर्थः, निशासु—रात्रिषु, रात्रे-
स्तृतीययामसमये इत्यर्थः, क्षणं—किञ्चित्कालमित्यर्थः, नत्र—
नयने, निमील्य—मुदृणं कृत्वा, निद्रया तदेकतानध्यानपरतया
वा निमीलितनेत्रा भूत्वा इत्यर्थः, “हं नीलकण्ठ !—हं शिति-
कण्ठ ! शिव ! क्व—कुत्र, व्रजसि ?—गच्छसि ?” इति अलक्ष्य-
वाक्—अलक्ष्या—अविषया, विना लक्ष्यमित्यर्थः, वाक्—वचनं

मानप्रवासयीर्लक्षणमाह,—

मानोऽन्यवनितासङ्गादौर्ध्वाविकृतिरुच्यते ।

प्रवासः परदेशस्थे प्रिये विरहसम्भवः ॥ १८ ॥

यस्याः, तथाभूता, निरर्थकप्रलापवचना इत्यर्थः, असत्ये—
अलीके, मिथ्याभूते इत्यर्थः, स्वप्नविषयत्वादिति भावः, कण्ठे—
गलदेशे, हरस्येति भावः, यद्वा,—असत्यस्य—स्वप्नदृष्टतया अप्र-
कृतस्य, शिवस्येति शेषः, कण्ठे—गलदेशे, अर्पितं—न्यस्तं,
बाह्योः,—भुजयोः, बन्धनम्—आश्लेष इत्यर्थः, यया तादृशी
सती, सहसा—हठात्, तत्क्षणमेवेत्यर्थः, व्युध्यत—अजा-
गरीत् । अत्र देव्याः अलक्ष्यवाक्त्वेन प्रलापः प्रदर्शितः ।
एवम् अन्यानि उन्मादव्याध्यादीनाम् उदाहरणानि मृग्याणि,
विस्तरभयात् नात्रोद्धृतानि । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १७ ॥

मानं प्रवासञ्च एकेनैव श्लोकेन लक्षयति, मानेति ।—अन्य-
वनितासङ्गात्—अन्यस्याः,—अपरस्याः, स्वभिन्नाया इत्यर्थः,
वनितायाः,—स्त्रियाः, सङ्गात्—संसर्गात्, अपरस्त्रीसंसर्गादि-
त्यर्थः, पत्युरिति भावः, या ईर्ष्या—अक्षमया, द्वेषित्यर्थः,
विकृतिः,—मनोविकारः, स्त्रीणामिति शेषः, सः मानः,—
तदाख्यविप्रलम्भभेदः इत्यर्थः, उच्यते—कथ्यते । उपलक्षणमेतत्,
प्रणयमानस्यापि सम्भवात् । तच्च उक्तं दर्पणकारिण,—“मानः
कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्यासमुद्भवः । द्वयोः प्रणयमानः स्यात्
प्रमोदे सुमहत्पि ॥ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं
विना ॥” इति । मानं लक्षयित्वा इदानीं प्रवासं लक्षयति,
प्रवास इति ।—प्रिये—कान्ते, पत्यावित्यर्थः, परदेशस्थे—
भिन्नदेशं गतौ, प्रोषिते सतीत्यर्थः, यः विरहसम्भवः,—विच्छेदो-
त्पत्तिः, सः प्रवासः,—तदाख्यविप्रलम्भभेदः, उच्यते इति शेषः ।

उक्तञ्च दर्पणे,—“प्रवासो भिन्नदशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ-
मात्” इति ।

तत्र मानोदाहरणं यथा,—

लिखन्नास्ते भूमिं वह्निर्वनतः प्राणदयितो

निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।

परित्यक्तं सर्व्वं दशितपठितं पञ्चरशुकै

स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने ! मानमधुना ॥

विप्रलम्भाख्यशृङ्गारप्रकारभेदं मानमुदाहरति, लिखन्निति ।
—काञ्चित् मानिनीं नायिकां प्रति सख्या उक्तिरियम् । प्राण-
दयितः,—प्राणेभ्यांऽपि प्रियतमः, तव कान्त इत्यर्थः, अवनतः,
—नतशिराः, विनीतः सन्नित्यर्थः, कृतापराधत्वात् तव प्रसादा-
काङ्क्षयेति भावः, भूमिं—महीं, भूतलमित्यर्थः, लिखन्—
नखैरङ्गयन्, [एतेनास्य स्वकृतापराधप्रशमनार्थं चिन्तानक्षणं
प्रदर्शितम्] वह्निः,—गृहाद् बाह्यप्रदेशे इत्यर्थः, द्वारप्रान्ते
इति यावत्, आस्ते—तिष्ठति, तथा सख्यः,—तं सहचर्य्यः,
सततं—निरन्तरं, रुदितेन—रोदनेन, सख्यास्ते मनस्ताप-
दर्शनजनितक्लेशोद्धूतेन क्रान्तिर्तेनति यावत्, उच्छूनं—नियताशु-
पतनात् स्फीति इत्यर्थः, नयने—लोचने यामां तथाभूताः, अत
एव निराहाराः,—उपोषिताः सत्यः, वत्से इति शेषः, पञ्चर-
शुकैः,—पञ्चरस्थगृहपालितशुकपक्षिभिः, दशितपठितं—
दशनपठनादिकं सर्व्वमेवेत्यर्थः, [दशितञ्च पठितञ्चेति विशिष्टं
समाहार इत्वे दशितपठितमिति पदं सिद्धम् । एतादृशस्थले
समाहारस्तु चिन्तनीयः] परित्यक्तं—परिहृतं, तवादशन-
जनितदुःखादिति भावः, तव च—भवत्या अर्पित्यर्थः, इयम्
—ईदृशी, मलिना इत्यर्थः, अवस्था—दशा, वसनभूषणादि-
हीन-धूलिधूसरितादेहात्मिका इत्यर्थः, दृष्टि इति शेषः,

अत एव हे कठिने !—निष्ठुरे सहचरि ! अधुना—इदानीं, मानं—प्रणयिनि अभिमानमित्यर्थः, कोपमिति .यावत्, विस्मज—त्यज ; चिरं मानिनी आसीः, इदानीमेतेषा-मस्माकं क्लेशापनयनार्थं मानं विहाय कान्तसङ्गता भवेति भावः । अत्र पत्युरन्यप्रियासङ्गशङ्कितायाः नायिकायाः विप्र-लम्भशृङ्गारप्रकारविशेषरूपः ईर्ष्यामानो बोध्यः । शिखरिणो वृत्तम् ।

एवं प्रवासोदाहरणं यथा,—

यामः सुन्दरि ! याहि पान्य ! दयिते ! शोकं वृथा मा कथाः;
शोकस्ते गमने कुतो मम ? ततो वाष्पं कथं मुञ्चसि ? ।
शौघं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा ?
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे सम्भ्रमः ॥

विप्रलम्भाख्यशृङ्गारप्रकारभेदं प्रवासमुदाहरति, याम इति । —प्रवासं जिगमिषोर्नायकस्य नायिकायाः सकाशं गमनानु-मतिप्रार्थनाकाले तयोः उक्तिप्रत्युक्तिरियम् । हे सुन्दरि !—सुरूपे ! यामः ?—गच्छामः ? विदेशमिति शेषः, [इति नायकस्योक्तिः । अत्र नायकस्य एकत्वेऽपि वयमिति कर्तु-र्बहुत्वम् “अस्मदो द्वयोश्च” (१।२।५६ पा०) इत्यनेन सिद्धम्] । हे पान्य !—भोः ! पथिक ! याहि—गच्छ, यथाऽभिमतदेश-मिति शेषः, [इति नायिकायाः प्रत्युक्तिः] । अत्र गमन-प्रार्थनामात्रेणैव नायिकया यत् “पान्य” इति सम्बोधनं कृतं, तेन अगतेऽपि तस्मिन्नचिरादेवावश्यगमनसूचनादात्मनि प्रियस्य प्रणयाभावः प्रकटितः, तदेवानुमीय नायकः सपद्येव “दयिते” इति प्रतिसम्बुध्याह, दयिते इति ।—दयिते !—प्रियतमे ! वृथा—निरर्थकं, शोकं—शुचं, दुःखमित्यर्थः, मा कथाः,—न कुरु, [इति नायकस्योक्तिः । “मा कथाः” इति अनुज्ञार्थेऽपि भाङ्-

शब्दयोगात् “माङि लुङ्” (३।३।१७५ पा०) इति लुङ् ।
 ते—तव, गमन—प्रवासप्रयाणे इत्यर्थः, मम—मे, शोकः,—
 मन्यः, दुःखमित्यर्थः, कुतः,—किमर्थम् ? [इति नायिकायाः
 प्रबलदुःखाभिव्यञ्जिका प्रत्युक्तिः] । ततः,—तदा, शोकं न
 करोषि चेदित्यर्थः, कथं—केन हेतुनेत्यर्थः, वाध्यम्—अशु
 इत्यर्थः, मुञ्चमि—त्यजमि ? किं रोदिष्यीत्यर्थः, [इति नायक-
 स्योक्तिः] । शीघ्रं—मत्वरम्, अनतिविलम्बेनेत्यर्थः, न व्रजमि
 —न गच्छमि, इति—इति हेतोरित्यर्थः, वाध्यं मुञ्चामांति
 शेषः ; [इति नायिकाया प्रत्युक्तिः] । मा गमयितुं—
 देशान्तरं प्रेरयितुमित्यर्थः, ते—तव, इयम्—इदृशी, त्वरा—
 व्यग्रता, कस्मात्—किमर्थम् ? [इति नायकस्योक्तिः] । त्वया—
 देशान्तरं गच्छता भवता इत्यर्थः, सह—साह, जिगमिषोः,—
 गन्तुमिच्छोः, मां विहाय अन्यत्र यातुमभिलाषुकस्येत्यर्थः, मे—
 मम, अस्य—एतस्य, कण्ठागतस्य इति भावः, जीवस्य—जीव-
 नस्य, भूयान्—महान्, निरतिशय इत्यर्थः, सन्धमः,—त्वरा,
 त्वामवलम्बेनैव देशान्तरं गमयितुं मम तु कापि त्वरा नास्ति,
 किन्तु केवलं त्वामनुसर्तुमभिलषतः मज्जीवनस्यैव इयं त्वरा
 इत्यर्थः ; अविलम्बेन अवश्यमेव प्रवासं जिगमिषुणा त्वया सह
 गन्तुं कृतनिश्चया मत्प्राणाः कण्ठागतास्तिष्ठन्ति, तव विलम्बं
 दृष्ट्वा ते अतीव सन्धान्ता वर्तन्ते इत्याशयः । तव प्रवासगमना-
 व्यवहितोत्तरमेव नूनमहं मरिष्यामि इति भावः । अत्र
 गमनस्य कान्तासम्पत्तिसापेक्षतया सम्भावनामात्रत्वेन, कार्यादि-
 निमित्तभेदेन भिन्नेषु त्रिविधप्रवासेषु कार्यजन्यः भाविप्रवा-
 साख्यः प्रवासभेदः दर्शितः ; तथा च दर्पणे,—“भावी भवन्
 भूत” इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः” इति । शार्दूलविक्रीडितं
 वृत्तम् ॥ १८ ॥

करुणविप्रलम्भलक्षणमाह,—

स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः ।

शृङ्गारः करुणाख्योऽयं वृत्तवर्णन एव सः ॥ १६ ॥

अथावसरप्राप्तं विप्रलम्भभेदं करुणं लक्षयति, स्यादिति।—
अनुरक्तयोः,—अन्योऽन्यानुरागिणोः, परस्परप्रेमवतोरित्यर्थः,
दम्पत्योः,—जायापत्न्योः, स्त्रीपुंसयोरित्यर्थः, एकतरस्य—अन्य-
तरस्य, नायकस्य नायिकाया वा इत्यर्थः, पञ्चत्वे—मरणे सति,
यः शृङ्गारः,—विप्रलम्भाख्यः शृङ्गाररस इत्यर्थः, सोऽयं करु-
णाख्यः,—करुणसंज्ञकः विप्रलम्भभेदः इत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ;
स च,—करुणविप्रलम्भ इत्यर्थः, वृत्तस्य—अतीतस्य, न तु वर्त्त-
मानस्य भाविनो वा, वस्तुन इति शेषः, वर्णने—कथने, एव,
प्रयोज्यः इति शेषः । स च यथा कादम्बर्यां महाश्वेतापुण्डरीक-
वृत्तान्ते, तथा कुमारसम्भवे रतिविलापे च । अयञ्च करुण-
शृङ्गारः मृतस्य एकतरस्य पुनर्लभ्यत्वे ज्ञेयः । अलभ्यत्वे
शरीरान्तरेण वा लभ्यत्वे करुणाख्यः एव रसः ।

यच्चात्र करुणविप्रलम्भाख्यशृङ्गाररसविषयतया,—

तीरात्तीरमुपैति रीति करुणं चिन्तां समालम्बते

किञ्चिद् ध्यायति निश्चलेन मनसा योगीव रुद्धेक्षणः ।

स्वां ह्यायामवलोक्य कूजति च यः कान्तामृतौ चक्रवत्

धन्योऽयं प्रणयी न रासभ इव स्याद् यत्र तत्रादृतः ॥

इत्युदाहृतं केनचित्, तदयुक्तं, अत्र प्रियायाः पुनः अलभ्यत्वेन
अस्य करुणरसविषयत्वात् इति सुधीभिर्भाव्यम् ; अस्यार्थः,—
तीरादिति ।—कस्यचित् मृतदारस्य अवस्थावर्णनमिदम् । यः
अयं प्रणयी—प्रणयवान्, प्रेमिक इत्यर्थः, कान्तामृतौ—
कान्तायाः,—स्वप्रियायाः, मृतौ—मरणे, चक्रवत्—चक्रवाक

‘वीररसनलक्षणमाह,—

उत्साहात्मा भवेद्दीर्गस्त्रिधा धर्माजिदानतः ।

नायकोऽव भवेत्सर्व्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः ॥२०॥

इव, तीरात्—एकस्मात् तटप्रदेशात्, तीरम्—अपरतटम्, उपैति—प्राप्नोति, करुणं—दीनं यथा तथेत्यर्थः, रैति—शब्दायते, विलपतीत्यर्थः, चिन्ता—तदेकाग्रताम् आध्यानमित्यर्थः, समालम्बते—आश्रयति, चिन्तापरो भवतीत्यर्थः, तथा योगाव—योगमग्नः तापस इवेत्यर्थः, रुद्धेक्षणः,—निर्मालितनयनः सन्, निश्चलेन—स्थिरण, विषयान्तरव्यावृत्तेनेति यावत्, मनसा—चेतसा, किञ्चित्—किमपि, ध्यायति—चिन्तयति, स्वां निजामपि इत्यर्थः, क्वायां—प्रतिविम्बम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, कृजति—अव्यक्तशब्दं करोति, कान्तागमनभ्रान्त्या इति भावः, मोऽगं धन्यः,—प्रशस्यः, मृतायामपि कान्तायां तत्रैवामक्तत्वात् इति भावः, यतः रामभ इव—गर्हभवत्, यत्र तत्र—यस्मिन् कस्मिन् स्थाने इत्यर्थः, सर्व्वत्रैव विचरणादिति भावः, आदृतः,—सम्मानितः, विपरीतलक्षणया अवमानितः इत्यर्थः, न स्यात्—न भवेत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

सभेदं शृङ्गारमुक्त्वा इदानीं वीरं लक्षयति, उत्साहेति ।—उत्साहः,—अध्यवसायः, आत्मा—स्वभावः, स्वरूपमित्यर्थः, यस्य तथाभूतः, रसः इति शेषः, वीरः,—तदाख्यो रसः, भवेत्—स्यात् ; स तु धर्माजिदानतः,—धर्मयुद्धदानैः उपाधिभिरित्यर्थः, त्रिधा—त्रिविधः, धर्मवीरः युद्धवीरः दानवीरः इति त्रिप्रकारः इत्यर्थः, भवति इति शेषः । अत्र—अस्मिन् वीररसे इत्यर्थः, नायकः,—नेता, सर्व्वैः,—समस्तैः, श्लाघ्यैः,—प्रशंसनीयैः, गुणैः,—धैर्य्यगाम्भार्यादिभिरित्यर्थः, अधिगतः,—युक्तः, भवेत्—

स्यात् । दर्पणकारेण तु दयावीररूपं चतुर्थं भेदं प्रकल्प्य अस्य चातुर्विध्यमुक्तम् ; यथा,—“स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्” इह तु धर्मवीरे एव तस्यान्तर्भावं कल्पयित्वाऽमौ पृथङ् नोक्तः ।

तत्र धर्मवीरोदाहरणं यथा दर्पणे,—

राज्यञ्च वसु देहश्च स्त्री च भ्रातृसुताश्च ये ।

यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय मदीयतम् ॥

तेषु त्रिषु वीररसभेदेषु धर्मवीरमुदाहरति, राज्यमिति । —युधिष्ठिरस्योक्तिरियम् । राज्यं—राजपदं, वसु—धनं, देहः, —निजशरीरं, स्त्री—भार्या, ये च भ्रातृसुताः,—भ्रातरः,—सहोदराः, सुताः,—पुत्राश्च, वर्तन्ते इति शेषः, किं बहुना, लोके—जगति, यच्च—यत् किञ्चिद्वस्तु इत्यर्थः, मम—मे, आयत्तम्—अधीनं, मत्सम्बन्धि इत्यर्थः, तत्—तत्सर्वमित्यर्थः, धर्माय—परोपकारादिधर्मसाधनाय इत्यर्थः, [“धर्माय” इत्यत्र “परस्मै” इति पाठे,—परोपकारार्थमित्यर्थः] सदा—सर्व-दैव, उद्यतम्—उत्सर्गोक्तं, मयेति शेषः ; अत्र परोपकारार्थं पुत्रकलत्रादीनामपि त्यागे उत्साहप्रदर्शनात् धर्मवीरत्वमस्य बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

युद्धवीरोदाहरणं यथा,—

भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते

कोऽयं ते मतिविभ्रमः ? स्मरन् नयं नाद्यापि किञ्चित् कृतम् ।

नैवञ्चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः

पुत्रो नैष संहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥

अथ क्रमग्राप्तं युद्धवीरमुदाहरति, भो इति ।—रावणं प्रति स्मीरामस्योक्तिरियम् । भो लङ्केश्वर !—लङ्कानाथ ! रावण इत्यर्थः, जनकजा—जनकतनया, सीतेत्यर्थः, दीयतां—

प्रत्यर्प्यतां. मङ्गमिति शेषः; रामः,—खरदूषणादिहन्ता प्रसिद्धः
 एष दशरथात्मज इत्यर्थः. [अत्र स्वमुखेन स्वनामोच्चारणात्
 गव्वातिरेकः सूचितः] स्वयम्—आत्मना, स्वमुखेनैव, न तु
 परमुखेनेति यावत्, याचते—प्रार्थयते, तामिति शेषः, ते—
 तव, अयं—सोताहरणरूप इत्यर्थः, मतिविभ्रमः,—मर्तः,—
 बुद्धेः, विभ्रमः,—विशिष्टा भ्रान्तिः, बहिविपर्ययास इत्यर्थः, कः,
 —कादृशः ? किमर्थे इत्यर्थः, नयं—नीतिं, “मातृवत् परदारंषु”
 इत्यादिरूपमित्यर्थः, स्मर—चिन्तय, परदारहरणादिकम-
 कर्तव्यमिति स्मृत्वा सन्तर्गमवलम्बस्व इति यावत् ; अद्यापि—
 एतावत्कालपर्यन्तमपि, किञ्चित्—किमपि, दण्डविधानादिक-
 मित्यर्थः, न कृतं—न अनुष्ठितमित्यर्थः, मर्याति शेषः ; चेत्-
 यदि, एवं—मदुक्तप्रकारं, सोताप्रत्यपणरूपं कार्यमित्यर्थः, न,
 करोषीति शेषः, तदा खरदूषणत्रिशिरसां—तत्तदास्यानां दण्ड-
 कारणस्थत्वत्वेनापतीनामित्यर्थः, कण्ठासृजा—कण्ठरुधिरण,
 क्षेदनजनितेनेति भावः, पङ्क्तिः,—कर्ममितः, कलुषित इति
 यावत्, धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः,—धनुषः,—काम्मुकस्य, ज्यायां—
 मौथ्यां, बन्धेन—सयोजनेन, बन्धूकृतः,—अबन्धुः बन्धुः कृतः,
 एकत्रावस्थानेन मित्रवत् आचारतः, धनुर्गुणारूढ इत्यर्थः, मम
 एषः,—हस्तस्य, पत्नी—बाणः, न संहिष्यते—न क्षमिष्यते,
 त्वामिति शेषः ; खरदूषणादीनां कण्ठक्षेत्ता ममायं शरः तवापि
 कण्ठं क्षेत्स्यतीति भावः । अत्र तृतीयचतुर्थचरणाभ्यां श्रीरामस्य
 युद्धार्थमुत्साहातिशयवर्णनात् युद्धवारविषयत्वमस्य बोध्यम् ।
 शार्दूलविक्राडितं वृत्तम् ।

दानवोरो यथा पुरशुरामः,—

उत्पत्तिजमदग्निः स भगवान् देवः पिनाकी गुरु-
 वीर्यं तत्र न मद्भिरामनुपमं व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहोनिर्व्याजदानावधिः

सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ? ॥

अथ क्रमप्राप्तं दानवोरमुदाहरति, उत्पत्तिरिति ।—जम-
दग्निः,—भृगुनन्दनात्, स्वनामख्यातमुनिविशेषादित्यर्थः,
उत्पत्तिः,—जन्म, अभवदिति शेषः, अत्र “यस्य” इति सम्बन्धि-
पदमध्याहार्यम् ; सः,—प्रसिद्धः, भगवान्—षडैश्वर्यशाली,
देवः,—द्यातनात्मा, “दोव्यति क्रोडति यस्मात् रोचते द्यातते
दिवि । तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥” इत्युक्त-
लक्षणः परमेश्वरः इत्यर्थः, पिनाकी—पिनाकाख्यधनुर्धारी
महादेवः, गुरुः,—धनुर्विदोपदेष्टा इत्यर्थः, अत्रापि “यस्य” इति
पदमूहनीयम् ; तत्र—यत्र ईदृशवीर्योत्कर्षसामग्रीसमवायः
विद्यते तस्मिन् जामदग्न्ये परशुरामे इत्यर्थः, यत् अनुपमम्,—
अतुलनीयम्, अत्युत्कटमिति यावत्, वीर्यं—पराक्रमः, विद्यते
इति शेषः, तत्, मद्गिरां—मम वचसां, न विषय इति शेषः,
अतुलपराक्रमस्य तस्य वीर्यं वाक्येनाहं प्रकाशयितुं न शक्नोमीति
भावः, तत्—वीर्यमित्यर्थः, कर्मभिः,—एकविंशतिकृतानिःक्ष-
त्रियकरण-कात्तवीर्यहननादिरूपैरित्यर्थः, व्यक्तं हि—प्रकटित-
मेव ; तस्य पराक्रमस्य इयत्ता नास्त्येवेति भावः । न केवलमयं
युद्धवीरः, अपि तु दानवोरोऽपि इत्याह, त्याग इति ।—त्यागः,
—दानं, दानशक्तिरित्यर्थः, सप्तभिः समुद्रैः,—सप्तसागरैः, मुद्रिता
—वेष्टिता, या महौ—पृथिवी, तस्याः निर्व्याजम्—अकपटं,
स्वेच्छया ससत्तोषमिति यावत्, यत् दानं—वितरणं, कस्य-
पाय इति शेषः, अवधिः,—सीमा यस्य तादृशः ; क्षणध्वंसि-
गाहिरण्यादिदानेनैव नास्य दानशक्तिः प्रत्यवसिता, अपि तु
सप्ताग्रा महोवानेन दानविषयीकृता ; अत एव सत्यब्रह्म-
तपोनिधिः,—सत्यस्य—सत्यवचसः, ब्रह्मणः,—ब्रह्मज्ञानस्य,

आतञ्जानस्य वा. तपसः, —तपस्यायाश्च, निर्धः,—आश्रयभृत-
स्यत्यर्थः, भगवतः,—माहात्म्यमस्यद्रव्यस्य, परशुरामस्यति शेषः.
किं किं—किं किं कार्यमित्यर्थः, लोकोत्तरम् अलौकिकं,
प्राकृतमानवेनाचरितुमशक्यमित्यर्थः, न ?—अपि तु सर्वमेवा-
लौकिकमित्यर्थः ; तस्य वाच्यं, दानशक्तिः, सत्यव्यवहारः,
ब्रह्मज्ञानं, तपश्चरणञ्च सर्वमेव लाकातिशायि आसीदिति
भावः । अत्र तृतीयपादे परशुरामस्य सप्तममुद्रवेष्टितपृथिवीदानं
उक्ताहातिशयप्रदर्शनात् अस्य दानवीरविषयत्वं ज्ञातव्यम् ।
शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

दयावीरोऽपि दपणेनोक्तः, यथा जीमूतवाहनः,—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त-

मद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

दृष्टिं न पश्यामि तवापि तावत्

किं भक्षणाच्च विरतो गरुत्मन् ! ? ॥

दयावीरोदाहरणं व्याख्यायते, शिरामुखैरिति ।—हे गरु-
त्मन् !—गरुड ! अद्यापि—इदानीमपि, शिरामुखैः,—शिराणां
—नाडीनां, मुखैः,—अग्रभागैः, छिन्ननाड्यग्रभागैरित्यर्थः, रक्तं
—शोणितं, स्यन्दते—क्षरति एव, अद्यापि सर्वं रक्तं त्वया न
निःशेषं पीतं, यतः स्रवतीति भावः, मम—मे, देहे—शरीरे,
मांसं—पिशितम्, अद्यापि इति पूर्वोक्तेनानुषङ्गः, अस्ति-
वर्तते, मांसमपि निःशेषं न भक्षितमित्यर्थः ; तवापि—भवतो-
ऽपि, तावत्—सम्पूर्णां, दृष्टिम्—उदरपूर्तिजनितं परितोष-
मित्यर्थः, न पश्यामि—नावलोकयामि, अद्यापि तव भोजना-
काङ्क्षा विद्यते इति विवेचयामीत्यर्थः ; (तथाऽपि) त्वं—भवान्,
किं—कथं, भक्षणात्—भोजनव्यापारात्, विरतः,—निवृत्तः ?
असीति शेषः ; यावत् मम रक्तमांसं विद्यते, तावत् भक्ष्य

करुणरसलक्षणमाह,—

शोकीत्यः करुणो ज्ञेयस्तत्र प्रणतरोदने ।

वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्त्तयेत् ॥ २१ ॥

इति भावः । अत्र जीमूतवाहनस्य गरुडकृतसमयानुसारेण पर्यायाऽऽपतितदिवसे तद्गोच्यार्थं समागतस्य शङ्खचूडस्य नाश-
सम्भावनातुराणां तदात्मीयानां दुःखप्रहाणेच्छारूपायां दया-
याम् उक्ताहः किं भक्षणात् त्वं विरतः ? इति चतुर्थपादवाक्येन
प्रकटितः, इत्यस्य दयावीरत्वं बोध्यव्यम् । इन्द्रवज्रापेन्द्रवज्रयो-
रूपजातिर्बृहत्तम् ॥ २० ॥

करुणं लक्षयति, शोकीत्य इति ।—शोकात् इष्टनाश-
निष्ठावासिजनितात्, स्थायिभावविशेषात् शुचः उत्तिष्ठति—
उत्पद्यते इति शोकीत्यः, रसः इति शेषः, करुणः,—तदाख्यरसः,
ज्ञेयः,—बोध्यः । तत्र—तस्मिन् करुणरसे, प्रणतं—प्रकर्षेण
पतनं, रोदनं—क्रन्दनं, वैवर्ण्यं—वर्णान्यथाभावः, मोहः,—
मूर्च्छा, निर्वेदः,—आत्मनि अवज्ञा, प्रलापः,—अनर्थकं वचनं,
अश्रूणि—नयनजलानि, एतानि कीर्त्तयेत्—वर्णयेत्, कविरिति
शेषः । अस्योदाहरणं यथा,—

हा मातस्त्वरितासि कुत्र ? किमिदं ? हा देवत ! कासि भोः ?
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहः स्वाङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्थं घर्घरकण्ठरुद्धकरुणं पौराङ्गनानां गिर-

श्वितस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥

करुणरसोदाहरणं व्याख्यायते, हा मातरिति ।—हा इति
खेदे, मातः,—जननि ! त्वरिता—सूत्रा मती, कुत्र—
कस्मिन् स्थाने, असि ?—वर्त्तसे ? त्वमिति शेषः, समयोप-
स्थितेः प्रागेव त्वं कुत्र गताऽसि ? नाधुनाऽपि ते प्रयाणकालः

हास्यरसलक्षणमाह,—

हासजूलः समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः ।

चैष्टाङ्गवेषवैकल्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः ॥ २२ ॥

समागतः इति भावः ; इदम्—एतत्, किम् ? आपतितमिति शेषः, कथमादृशः अनिष्टः समुपस्थितः इति भावः, हा इति शोकं, भाः दैवत !—हे देव, हे परमेश ! इत्यर्थः, क—कुत्र, असि ?—वर्त्तसे ? त्वमपि अस्मान् परित्यज्य गतः ? येनास्माकमीदृशी दुद्देशा समुपस्थिता इति भावः, प्राणान्—जीवितं, धिक्—निभेक्षयामि, जीविनेनास्माकं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ; अग्निः,—वज्रः, पतितः,—निक्षिप्तः, माह—वियागिनास्माकं शिरसि वज्राघातः सञ्जातः ; स्वाङ्गेषु—स्वदेहेषु, हृतवहः,—अग्निः, अग्निर्देहं दहतीवेत्यर्थः ; दृशी—नेत्रे, दग्धे—भस्मीभूते, तवादृशेन चक्षुषोरतीव सन्तापजननमिति भावः ; घर्घरकण्ठरुद्धकरुणं—घर्घरण—घर्घर इति—अव्यक्तध्वनिविशेषयुक्तेन, कण्ठेन—गलदेशेन, रुद्धं—लुप्तप्रायम्, अत एव करुणं यथा तथा, उच्चारिताः इति शेषः, पौराङ्गनानां—पुरस्त्राणाम्, इत्यम्—एवम्प्रकाराः, गिरः,—शोकवचनानि, चित्रस्थानपि—आलेख्यगतानपि, निर्जीवानपि, किमुत सजीवान् इति भावः, रोदयन्ति—क्रन्दयन्ति, भिक्तीः,—कुड्यान्पि, जड़ानपि इति भावः, शतधा—शतखण्डेन विभक्ताः, खण्ड-खण्डोक्तताः इत्यर्थः, कुर्वन्ति—सम्पादयन्ति । अत्र करुणः सुस्पष्ट एव । शार्दूलविक्राडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

हास्यं लक्षयति, हासति ।—हासः,—रागवेशादः विकृतताजनितः स्फूर्तिजनकः भावविशेषः, वागादिविकृतताजनितः चेतो विकासो वा, मूलं—कारणं यस्य सः, हास-

पाचभेदेन हासभेदसाह,—

कपोलाक्षिकृतोल्लासोभिन्नोष्ठः स महात्मनाम् ।

विदीर्णास्यश्च मध्यानामधमानां सशब्दकः ॥२३॥

मूलः,—हासस्यायिभावः इत्यर्थः, हास्यनामा रसः बुधैः,
—पण्डितैः, समाख्यातः,—कथितः । चेष्टायाः,—चेष्टा—
कायकृतव्यापारः, तस्याः, मुखनेत्रादिसञ्चालनरूपाया इत्यर्थः,
अङ्गस्य—करचरणाद्यवयवस्य, विषय—प्रसाधनस्य च, वैक्ल-
त्यात्—विकृतभावात्, हास्यस्य—तदाख्यरसस्य, उद्भवः,—उत्-
पात्तः, वाच्यः,—कथनीयः ॥ २२ ॥

व्यक्तिविशेषे अस्य प्रकारभेदं दर्शयति, कपोलेति ।—सः,
—हासः, महात्मनाम्—उत्तमानां नराणां, कपोलेषु—गण्ड-
टेषु, अक्षिषु—नेत्रेषु, कृतः,—सूचित इत्यर्थः, उल्लासः,—
विकासः यस्य तथाभूतः, अथ च, अभिन्नोष्ठः,—अकार-
प्रक्षेपपक्षे,—अभिन्नौ—अप्रकटितौ, ओष्ठौ यत्र तथाभूतश्च,
यद्वा,—भिन्नोष्ठः,—तदभावपक्षे च,—भिन्नौ—स्मरतया
स्पर्शान्दताधरतया च ईषद्विकसितौ, इति भावः, ओष्ठौ—
दशनवाससी, (अत्र द्विवचनेन ओष्ठाधरयोरेव बोधात्)
यस्मिन्, तादृशः । मध्यानां—नाधमानां नाप्युत्तमानाम्,
उत्तमाधमयोरन्तरालवर्तिनामित्यर्थः नराणामिति शेषः,
विदीर्णा—विस्तारितम्, आस्यं—वदनं यत्र तथाभूतः ; अध-
मानां—नाचाना, सशब्दकः,—शब्दसहितः, व्यादत्तवदनः
भवति इति शेषः । [अत्र “कपोलाक्षिकृतोल्लासमाष्टे तिष्ठन्
स उत्तमः । मध्यमानां विदीर्णास्यः सोऽवराणां सशब्दकः ॥”
इति पाठे,—कपोलाक्षिभिः,—गण्डस्थलनेत्रैः, कृतः, उल्लासः,
—विकासः यत्र, तत् यथा भवति तथा, ओष्ठे—वदनच्छदे

एव, तिष्ठन्—वत्तमानः, न तु व्याप्तास्यः भवन्नित्यर्थः, यः
हान इति शेषः, सः,—हाम इत्यर्थः, उत्तमः,—उत्तमपात्रगत-
हाम इत्यर्थः । अवराणाम्—अधमानां, नाचानामित्यर्थः] ।
अत्र दर्पणकारिण विग्रहः उक्तः,—“ज्येष्ठानां स्मितहसितं
मध्यानां विहसितावहसितं च । नीचानामपहसितं तथा-
ऽतिहसितञ्च षड्भेदाः ॥ ईर्ष्याद्विकारनिवर्तनं स्मितं स्यात्
स्पन्दिताधरम् । किञ्चिन्नव्यङ्ग्यं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥
मधुरस्वरं विहसितं मांसशिरःकम्पमवहसितम् । अप-
हसितं मास्त्राक्षं विचित्राङ्गं भवत्यतिहसितम् ॥” इति
उदाहरणम्,—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्द्ध्नि वेष्ट्या

मन्त्राश्रमां प्रतिपटं पृषतैः पवित्रे ।

तारस्वरं प्रहितशूर्पमदात् प्रहारं

हा हा हताऽहमिति रोदिति विष्णुगम्भी

हास्यरसादाहरणं व्याख्यायते, आकुञ्चेति ।—वेष्ट्या—
काचिद्गणिका, मन्त्राश्रमा—मन्त्रपूतोदकानाम्, आपोमाज्जन-
मन्त्रेण मन्त्रितानामित्यर्थः, पृषतैः,—विन्दुभिः, पवित्रे—विशुद्धे,
मम—मे, मूर्द्ध्नि—शिरसि, प्रतिपटं—पटे पटे, प्रतिपदक्षेप-
मित्यर्थः, अशुचिम्—अपवित्रं, वेष्ट्यात्वादिति भावः, पाणिं—
करम्, आकुञ्च्य—सङ्कोचितं कृत्वा, प्रहितशूर्पं—प्रहितः,—
प्रेरितः, शूर्पः,—प्रस्फोटनं, धान्यवषादोनां धूत्याद्युत्सारण-
सहायः “कुला” इति वज्जायैराख्यातद्रव्यविशेषः यत्र तद् यथा
तथा, तारस्वरं—सशब्दं, प्रहारं—ताडनम्, अदात्—अकरोत्,
शूर्पसञ्चालनेन मम मस्तके प्रहारम् अकरोदित्यर्थः, शूर्पसञ्चाल-
नोत्थवायुना मां दूरोचकारेति भावः ; अत एव हा हा इति
विषादे, अहं हतः,—विनष्टः, इति—एवमुक्त्वा इत्यर्थः, विष्णुगम्भी

अङ्गतरसोत्पत्तिमाह,—

विस्मयात्माऽङ्गुतो ज्ञेयः स चासम्भाव्यवस्तुनः ।
दर्शनात् अवणाद्वाऽपि प्राणिनामुपजायते ॥२४॥

अङ्गतरसलक्षणमाह,—

तत्र नेत्रविकासः स्यात् पुलकः स्वेद एव च ।
निस्पन्दनेत्रता साधु साधु वा गद्गदा च गौः॥२५॥

—तन्नामा कश्चित् ब्राह्मणः, रोदिति—क्रन्दति । अत्र “तारस्वरं
प्रहितशूर्पम्” इत्यादिगणिकाचेष्टाविशेषस्य चास्यजनने कारण-
त्वात् हास्यरमो बोध्यः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । यथा
वा,—“गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिन-
त्रयञ्च । अमो समाग्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्र-
पादाः ॥” इति ॥ २३ ॥

अङ्गतरस्य उत्पत्तिमाह, विस्मयेति ।—विस्मयः,—विचित्र-
वस्तुदर्शनजनितः चित्तविकारविशेषः, आत्मा—स्थायिभावः
यस्य तथाभूतः, रसः इति शेषः, अङ्गुतः,—तदाख्यः रसः, ज्ञेयः,
—बोध्यः । सः च—अङ्गतर इत्यर्थः, प्राणिनां—सहृदया-
नामिति भावः, असम्भाव्यस्य—कस्यचित् सम्भावनाऽतिगस्य,
लोकातीतस्य वा, वस्तुनः,—पदार्थस्य, दर्शनात्—अव-
लोकनात्, अवणाद्वाऽपि—आकर्णनाद्वाऽपि, उपजायते—
सम्भवति ॥ २४ ॥

अङ्गतरससूचकलक्षणमाह, तत्रेति । तत्र—अङ्गते रसे,
नेत्रयोः विकासः,—विस्फूर्तिता, पुलकः,—लोमाञ्चः, स्वेदश्च
—घर्म्मश्च, तथा निस्पन्दनेत्रता—निश्चलनेत्रता, साधु साधु

इत्येवरूपा गङ्गा—अथक्ताम्बुटा, गाः,—वाक् च, स्यात्—
भवेत् ।

अत्र उदाहरणम्,—

चित्त्वं महानिष वताविकारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गिः ।

लोकोत्तरं धैर्यमहा । प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

अङ्गुलीदाहरणं व्याख्यायते, चित्त्वमिति ।—वत—विस्मये
हर्षे वा, एषः,—अयं, महान्—प्रकृतः, अविकारः,—विकारा-
भावः, गाभ्योऽर्थमित्यर्थः, क्व—कुत्र, अस्तीति शेषः, न कुत्रापि
दृश्यते इति भावः ; एषा—परिदृश्यमाना, कान्तिः,—लावण्यम्,
अभिनवैव—नूतना एव, नान्यत्र कुत्रापि दृश्यते इति भावः ;
भङ्गिः,—विन्यासोऽपि, अवयवस्येति भावः, अभिनवैव इति
विशेषणपदमत्रापि योजनीयम् ; लोकोत्तरम्—अलौकिकं,
धैर्यं—धीरत्वम्, अहो—आश्चर्यम्, अप्राकृततया इत्यर्थः, प्रभावः,
—“सः प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्” इत्युक्तलक्षणः
तेजोविशेषः, तेजो वा, कापि—अनिर्वचनीया अदृष्टपूर्वा च,
आकृतिः,—रमणीयाकारः, अत एव एषः,—अयं, परिदृश्य-
मान इत्यर्थः, सर्गः,—विधातुः सृष्टिविशेषः, नूतनः,—
नवीनः, इतः प्राक् ईदृशः सर्गः विधात्रा कदापि न कृतः,
अयमेव प्रथमः सर्गः इति भावः ; चित्रम्—आश्चर्यमेतत् ।
अत्र कुत्राप्यदृष्टानाम् विकाराभावादीनां पुरःस्थे महाप्रभावे
पुंसि दर्शनात् नेत्रविकाशाद्युत्पत्तेः अङ्गुतरमः बोध्यः ।
इन्द्रवज्रा वृत्तम् । यथा वा—“दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखर-
धनुर्दण्डावभङ्गोद्यतः टङ्कारध्वनिरार्थबालचरितप्रस्तावना-
ङ्गिण्डिमः । द्राक्पथ्यस्तकपालमम्पुटमिलद् ब्रह्माण्डभाग्दोदर-
भ्राम्यन्तिण्डितचण्डिमा कथमहो ! नाद्यापि विश्राम्यति ॥”
इति ॥ २५ ॥

भयानकरसमाह,—

भयानको भवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः ।

स च प्रायेण वनितानौचबालेषु शस्यते ॥ २६ ॥

भयानकरस्य कार्यमाह,—

दिगालोकास्यशोषाङ्गकम्पगद्गदसम्भ्रमाः ।

चांसवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ॥ २७ ॥

भयानकं लक्षयति, भयानक इति ।—घोरवस्तुनः,—
भोषणपदार्थात्, पिशाचादिदर्शनात् इति भावः, भीतिः,—
भयम् एव, प्रकृतिः,—स्वभावः, स्थायिभावः इत्यर्थः, यस्य
तादृशः, रसः इति शेषः, भयानकः,—तदाख्यः रमविशेषः,
भवेत् । सः च—भयानको रसः, प्रायेण—बाहुल्येन, वनिताः,
—स्त्रियः, नौचाः,—अधमाः पुरुषाः, बालाः,—शिशवः तेषु,
शस्यते—कथ्यते, वर्ण्यते वा ॥ २६ ॥

भयानकरसे यद् यद् भवति तत्तदाह, दिगिति ।—इह—
अस्मिन् रसे, दिशाम् अलोकः,—दर्शनं, दिक्षु नित्वनिक्षेपः
इत्यर्थः, आस्यशोषः,—मुखशुष्कता, अङ्गानाम्—अवयवानां,
कम्पः, गद्गदः,—अस्पष्टवाक्, सन्धमः,—आवेगश्च ते, तथा त्रास-
वैवर्ण्यमोहाश्च—त्रासः,—भीतिः, वैवर्ण्यं—मुखादेर्मालिन्य-
मित्यर्थः, मोहः,—मूर्च्छा च, ते, विबुधैः,—पण्डितैः, वर्ण्यन्ते
—कीर्त्यन्ते । तद्यथोदाहृतं दर्पणकारिण,—

नष्टं वर्षवरेर्मनुष्यगणनाभावादपास्य तपा-

मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विंशति त्रासादयं वामनः ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नान्नः किरातैः कृतं

कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

भयानकोदाहरणं व्याख्यायते, नष्टमिति ।—वर्षवरेः,—

शगढेः, क्लीवैरित्यर्थः, (“शगढो वर्षेवरस्तुल्यौ” इत्यमरः ।
 तामात्—भयात्, (पदमेतत् सर्वत्रैवान्वेतव्यम्) मनुष्य-
 गणनाभावात्—मनुष्येषु—पुरुषेषु, गणनाभावात्—अगण्य-
 त्वात्, ऐस्वाभावात् सर्व्वग्रामश्रद्धेत्यादिति भावः, तपां—
 लज्जां, पलायनजनितामित्यर्थः, अपास्य—त्यक्त्वा, अनपेक्ष्य
 इत्यर्थः, नष्टम्—अदृशनं गतं, पलायितमिति यावत् ;
 अयं—परिदृश्यमान इत्यर्थः, वामनः,—ह्रस्वाकारः पुरुषः,
 कञ्चुकिकञ्चुकस्य—कञ्चुकिनः,—“अन्तःपुरचरा वृद्धो विप्रो
 गुणगणान्वितः । सर्व्वकार्य्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।
 जरावक्तव्ययुक्तान विशद्वात्रेण कञ्चुकी ॥” इत्युक्तान्नृणान्तः-
 पुराविज्ञतवृद्धज्राह्मणविशेषस्य, कञ्चुकस्य—वारवाणस्य, वस्त्र-
 विशेषस्य इत्यर्थः, (कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री” इत्यमरः ।
 अन्तः,—अभ्यन्तरे, अन्तराले इत्यर्थः, विगति—प्रविगति,
 कञ्चुकान्तराले आत्मानं गोपायतीत्यर्थः ; पर्य्यन्ताश्रयिभिः,—
 पर्य्यन्तं—प्रान्तभागं, ग्रामस्येति भावः, आश्रयन्तीति तादृशैः,
 ग्रामप्रान्तवृत्तिभिरित्यर्थः, किरातैः,—व्याधैः, निजस्य—
 स्वस्य, नान्नः,—किरात इति संज्ञायाः, (तथा हि,—किरं—
 विष्ठादिमलप्रक्षेपस्थानं, पर्य्यन्तदेशमित्यर्थः, अतति—गच्छति,
 वृमतोत्यर्थः, इति व्युत्पत्त्या किरातशब्दः उपशब्दवास्त्यन्तेच्छ-
 विशेषार्थं प्रयुज्यते इति वेदितव्यम्) सदृशं—उचितं, कर्मोति
 शेषः, कृतम्—अनुष्ठितं, पर्य्यन्ताश्रयणं कृतमित्यर्थः, पला-
 यितमिति यावत् ; (यद्वा,—“अन्तेवासी” इति स्वपर्या-
 यकशब्दः अन्वयः कृतः इति तात्पर्य्यं, तथा चामरः,—
 “निषादश्चपचान्तेवास्त्रिचाण्डालपुक्कमाः” इति)- कुञ्जाः,—
 गडगुल्मी,—रोगेण वाद्विकेन वा क्रोडावनतोन्नतपृष्ठपुरुष-
 विशेषाः इत्यर्थः, आत्मेक्षणाशङ्किनः,—आत्मनः,—स्वस्य,

रौद्ररसमाह,—

क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् ।

भीष्मवृत्तिर्भवेदुग्रः सामर्षस्तत्र नायकः ॥ २८ ॥

रौद्ररसस्य काव्यमाह,—

स्वांसापातस्वसंज्ञाघाऽऽक्षेपभ्रूकुटयस्तथा ।

अवारातिजनाक्षेपो दलनं चोपवर्ण्यते ॥ २९ ॥

ईदृश—इत्येतत्, आशङ्कन्ते—सम्भावयन्ति, आशसन्ते वा, इति
तथोक्ताः सन्तः, नीचतयैव—ततभावेनैव, शनकैः,—मन्द मन्दं,
यान्ति—भयावेशात् गच्छन्ति । अत्र धारवस्तुदर्शनात् नीच-
पात्राणां वर्षवरादीनां त्राससम्भवादिवर्णनात्, भयानकरसो
बोध्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

रौद्रं लक्षयति, क्रोधिति ।—क्रोधः,—कोपः, आत्मा—
स्वरूपं यस्य सः, क्रोधस्थायिभावकः रस इति शेषः, रौद्रः,—
तन्नामा रसः भवेत् । क्रोधश्च अरिभ्यः,—शत्रुभ्यः, पराभवात्
—शत्रुमानात्, भवति इति शत्रुः । तत्र रौद्रे रसे, नायकः,—
नेता, भोक्ता—भयङ्करा, वृत्तिः,—व्यापारः, चेष्टा इत्यर्थः यस्य
तथाभूतः, उग्रः,—धारः, भोषणदर्शन इत्यर्थः, सामर्षः,—“निन्दा-
ऽऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता । नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गो-
त्तज्जनादिक्लृत् ॥” इत्युक्तलक्षणः अमर्षः, तेन सह वर्तमानः
परिभवासहिष्णुः इत्यर्थः, भवेत् ॥ २८ ॥

रौद्ररसे यादृशी चेष्टा भवति, तामाह, स्वांसापातेति ।—
अत्र—रौद्ररसे, स्वांसापातः,—स्वस्य अंसस्य—स्कन्धस्य, तथा,
लक्षणया दाहः इत्यर्थः, आपातः,—तर्जनाथमास्फोटनं,
स्वस्य—आत्मनः, संज्ञाघा—प्रशसा, आक्षेपः,—निभत्सनं,
भ्रूकुटिः,—भ्रूभङ्गिः, ताः, तथा अरातिजनस्य—शत्रुजनस्य,

आक्षेपः,—तिरस्कारः, टलनं—मर्दनञ्च, उपवर्ण्यते—कीर्त्यते ।
[“स्वामाद्योतः स्वशंमास्त्रोत्क्षेपभ्रूकुटयस्तथा” इति प्रथमार्धस्य
पाठान्तेरे,—स्वस्य अंसस्य आद्यातः,—स्वेनैव ताडनं, [आङ्-
पूर्वकात् भौवादिकात् द्यायतेः निष्ठा] स्वशंमा—आत्मझाघा,
अस्त्रोत्क्षेपः,—अस्त्राणाम् उत्क्षेपः,—ऊर्ध्वोत्तोलनम्, ऊर्ध्वीकृत्य
प्रदर्शनम् इत्यर्थः] । यथा वेणीसंहारे,—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिटं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा साहं तेषां सभौमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्गामैः करोमि दिशां बलिम् ॥

क्रमप्राप्तं रौद्रोदाहरणमाह, कृतामिति । -पितृानधना-
त्तस्य क्रुद्धस्य अश्वत्यान्त्रः पाण्डवान् प्रतिमम्बोध्य उक्तिरियम् ।
यैः निर्मर्यादैः,—उल्लङ्घितस्थितिभिः, अनुष्ठितपृज्यपृजाव्यति-
क्रमैरित्यर्थः, युद्धे निरस्त्रस्य हनननिषिधात् तत्करणेन युद्ध-
मर्यादाभङ्गावश्यम्भावात् इति भावः, अत एव मनुजपशुभिः,
—मनुजेषु—मनुष्येषु, पशुभिः,—पशुतुल्यैः, पशुवत् हिताहित-
ज्ञानरहितैरित्यर्थः, उदायुधैः,—उद्यतास्त्रैः, शस्त्रधारिभि-
रित्यर्थः, भवद्भिः,—युष्माभिः, पाण्डुतनयैरित्यर्थः, इदं—मत्-
पितृशिरश्छेदरूपं, गुरु—महत्, पातकं—पापं, निरस्त्रस्य
युद्धादिरस्य समाधिभाञ्चित्य स्थितस्याचार्यस्य घातनरूपं महा-
पापमिति यावत्, कृतम्—स्वयमनुष्ठितम्, अनुमतं—अनुज्ञातं,
स्वीकृतमित्यर्थः, न निषिद्धमिति यावत्, दृष्टं वा—ईक्षितं वा,
नरकरिपुणा—नरकासुरान्तकेन, श्रीकृष्णेन इत्यर्थः, साहं—
सह, वर्तमानानामिति शेषः, सभौमकिरीटिनां—भौमार्जुन-
सहितानां, तेषां—दृष्टद्युन्नादिपाण्डुपक्षीयाणामित्यर्थः, असृ-
ङ्गेदोमंसैः,—रक्तवसापिशितैः, अयम्—एषः, परिदृश्यमान

बीभत्सरसमाह, —

बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सद्यो यच्छ्रवणेक्षणात् ।

निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च ॥ ३० ॥

इत्यर्थः, अहम्— अश्वत्थामा इत्यर्थः, दिशां—ककुभां, दिग्वि-
दिक्संस्थितभूतानामित्यर्थः, बलिं—पूजां, (“बलिः पूजोप-
हारयोः” इत्यमरः) करोमि—सम्पादयामीत्यर्थः । अत्र
पाण्डवपक्षीयधृष्टद्युम्नेन कृतात् पितुर्द्रोणाचार्यस्य अन्यायसमरे
हननरूपादवमाननात् समुपजातात्मावज्ञस्यः नायकस्याश्व-
त्थाम्नः उग्रत्वसामर्षत्वादिवर्णेनात् रौद्ररससङ्गतिः बोध्या ।
हरिणी वृत्तं,—“न समरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणोमता” इति
लक्षणात् ॥ २९ ॥

अथ क्रमप्राप्तं बीभत्सं लक्षयति, बीभत्स इति ।—सद्यः,—
तत्क्षणं, यस्य—यदिषयस्येत्यर्थः, अवणं—कुतश्चिदाकर्णनम्,
ईक्षणं—दर्शनञ्च, तस्मात्, [अत्र अवणञ्च दर्शनञ्च अवणदर्शन-
मिति समाहारद्वन्द्वे एकवद्भावश्चिन्तनीयः] या जुगुप्सा—घृणा,
तस्याः जुगुप्साहेतोरित्यर्थः, जुगुप्सास्थायिभावकः इति यावत्,
[जुगुप्सात इति जुगुप्साशब्दात् पञ्चम्याः तसिल्] बीभत्सः,—
तदाख्यः रसः, स्यात्—भवेत्, [“बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातो-
द्बृहदस्य श्रवणेक्षणात्” इति प्राठान्तरे,—अहृदयस्य—अप्रियस्य,
मनोग्लानिकरविषयस्येत्यर्थः, श्रवणेक्षणात् या जुगुप्सा, तस्याः
बीभत्सः स्यादित्यर्थः]; अत्र—अस्मिन् रसे, निष्ठीवनं—युत्कारः,
आस्यभङ्गः,—मुखविकृतिः इत्यर्थः, आदिः यस्य तत्, (अत्र
आदिपदेन गात्रसङ्कोचन-नासापिधानादीनां ग्रहणम्) स्यात्
—भवेत् ; किन्तु महतां—महापुरुषाणां, तत्त्वज्ञानवता

मित्यर्थः, समलोटाश्मकाञ्चनानामिति यावत्, न च—नैव.
स्यात्, निष्ठीवनादिकम् इति शेषः ।

बौभस्तरमोटाहरणं यथा मालतीमाधवे,—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यमस्मिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्यग्रपूतानि जग्ध्वा ।

अन्तःपर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्गः करङ्का-

दङ्गस्यादस्थिमंस्थं स्पृष्टगतमपि क्रव्यमव्यग्रमस्ति ॥

प्रेतभूमौ अर्द्धविगलितं शवदेहं भुञ्जानं प्रेतमालोक्य माधवः,
तत्क्रव्यमुपवर्णयन्नाह, उत्कृत्येति । प्रेतरङ्गः,—प्रेतेषु—प्राण्यन्त-
रेषु, भूतयोनिविशेषेषु इत्यर्थः, (“प्रेतः प्राण्यन्तरं मृते”
इत्यमरः) रङ्गः,—मन्दः, हीन इत्यर्थः, (“रङ्गः कृपणमन्दयोः”
इति मेदिनी) प्रेताधम इति यावत्, प्रथमम्—आदौ, कृत्तिं—
चर्म, उत्कृत्य उत्कृत्य—छित्वा छित्वा, अस्तीति वक्ष्यमाण-
क्रियापदेनान्वयः ; अथ—अनन्तरं, त्वग्भक्षणात् परमित्यर्थः,
पृथूच्छोथभूयांसि—पृथ्ना—महता, उच्छोथेन—स्फीतिभावेन,
भूयांसि—प्रभूतानि, बहुकालमृततया पर्येषितत्वादिति भावः,
अंमः,—स्कन्धः, स्मिक्—नितम्बः, पृष्ठं—देहस्य पश्चादंशः,
तान्येव पिण्डाः,—देहैकदेशाः, तदाद्यवयवेषु—तत्प्रभृत्यङ्गेषु,
(अत्र आदिना ऊर्वादेः मांसलस्थलस्य ग्रहणम्) सुलभानि
—सुप्रापाणि, उग्रपूतानि—उत्कटदुर्गन्धीनि, मांसानि—
पिशितानि, जग्ध्वा—भक्षयित्वा, अन्तः,—अभ्यन्तरे, शव-
देहस्येति भावः, [“अन्तः” इत्यत्र “आर्तः” इति पाठे,—
आर्तः,—दुःखितः, त्वङ्मांसादिभक्षणेनापि अदृश इत्यर्थः]
पर्यस्तनेत्रः,—पर्यस्ते—पतिते, नेत्रे—नयने यस्य तादृशः,
अन्तीदिभक्षणाशया इति भावः, प्रकटितदशनः,—प्रकटिताः,
—प्रकाशिताः, दशनाः,—दन्ताः येन तादृशः सन्, अङ्गस्यात्

शान्तरसमाह,—

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निस्पृहनायकः ।

रागद्वेषपरित्यागात् सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥३१॥

—क्रोडनिहितात्, करङ्गात्—अस्थिशेषात् शवात्, शिरो-
भागाद्वा, (“करङ्कोऽस्थिशेषे” इति “करङ्गः प्रेतशरीरम्” इति
“करङ्को मस्तके” इति च मेदिनी) अस्थिसंस्थम्—अस्थिसंलग्नम्,
अथ च स्थपुटगतमपि—विषमस्थानस्थितमपि, ग्रन्थिस्थमपी-
त्यर्थः, क्रव्यं—मांसम्, अव्यग्रं—निःशङ्कं यथा स्यात् तथेत्यर्थः,
अन्ति—खादति । अत्र पूतिमांसासृगादिजुगुप्साव्यञ्जकशब्दा-
कर्णनेन मनसि घृणोद्वेकात् निष्ठीवनास्यभङ्गादिसम्भवात्
बीभत्सरससङ्गतिः बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

अथ क्रमप्राप्तं शान्तं लक्षयति, सम्यगिति ।—सम्यग्-
ज्ञानात्—संसारवैराग्यलक्षणात्, समीचीनबोधादित्यर्थः, तत्त्व-
ज्ञानादिति यावत्, समुत्थानं—समुत्पत्तिः यस्य तथाभूतः, तथा
निस्पृहः,—वीतरागः, संसारसुखाभिलाषहीन इत्यर्थः, नायकः,
—नेता यस्य यत्र वा तादृशः, रसः इति शेषः, शान्तः,—शान्त
इति नाम्ना प्रसिद्धः, भवेदिति शेषः । रागः,—विषयानुरागः,
पुत्रकलत्रादिषु आसक्तिरिति यावत्, द्वेषः,—शत्रुषु वैरबुद्धिः,
तयोः परित्यागात्—परिवर्जनात्, सम्यग्ज्ञानस्य—प्रागुक्त-
रूपस्य बोधस्य, उद्भवः,—उत्पत्तिः स्यादिति शेषः । अत्र
सम्यग्ज्ञानं स्थायिभावः इति भावः ।

उदाहरणम्,—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृशदि वा

मणौ वा लोष्ट्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।

तृणे वा स्तूणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः

कदा पुण्येऽरण्ये जिन ! जिन ! जिनेति प्रलपतः ॥

सर्वत्र समदर्शितया समुत्पन्नतत्त्वबोधः कश्चिद् बोध-
मय्यामौ- स्वं . मनोगतमभिधत्ते, अहोविति ।—अहो—अति-
भौषणे सर्पे वा, [इह सर्वत्र वाकारः प्रत्येकप्राधान्यसूचनार्थः
बोध्यः] हारि—अतिमनोरमायां कण्ठभृषायां वा, कुसुमशयने—
निरतिशयकोमलायां पुष्पनिर्मितशय्यायां वा, दृशदि—अति-
कठिने प्रस्तरे वा, उपलशय्यायां वेत्यर्थः, मणौ—अत्युज्ज्वलतरे
रत्ने वा, लोष्ट्र—अतितुच्छे मृत्खण्डे वा, बलवति—प्रबले,
विपुलानिष्टकारिणीत्यर्थः, रिषौ—शत्रौ वा, सुहृदि—हित-
कारिणि मित्रे वा, तृणे—अग्राह्ये घासादौ वा, स्तूणे—जन-
मानसोन्मादके स्तूपसमूहे वा, समदृशः,—तुल्यदृष्टेः, समदर्शन
इत्यर्थः, अतुच्छे तुच्छे सुखे दुःखे च रागद्वेषविरहात् सर्व-
त्रैव उदासीनस्येति यावत् ; मम—मे, दिवसाः,—दिनानि,
पुण्ये—पवित्रे, विजनतयाऽतिशान्तिप्रदे इत्यर्थः, अरण्ये—
कानने, स्थित्वेति शेषः, जिन ! जिन ! जिन !—बुद्ध ! बुद्ध !
बुद्ध ! इति—इत्थं, प्रलपतः,—बहुवदतः, निरन्तरं जपतः
सतः इत्यर्थः, कदा—कहिं, यान्तु—गच्छन्तु ; न जानं,
कदा अहं सर्वत्र समदर्शी रागद्वेषादिकं परित्यज्य निर्जन-
कानने स्थित्वा अनन्यचित्तो जिनं स्मरन् अवशिष्टान् दिवसान्
अतिवाहयितुं शक्यामि इति समुदितार्थः । अत्र सकृच्चन्दन-
वनितादिषु निस्पृहस्य सपत्न्यादिष्वपि अद्विषतो नायकस्य
पुण्येऽरण्ये वसतो जिनस्मरणमेव संसारसागरोत्तरणसेतुः इत्येवं-
रूपस्य तत्त्वज्ञानस्य उदयदर्शनात् शान्तरससङ्कतिः बोध्या ।
शिखरिणी वृत्तं, तल्लक्षणं यथा,—“रसैरुद्वैच्छिन्ना यमनसभला
गः शिखरिणी” इति ।

अन्यच्च,—

शत्रौ मित्रे हर्म्यऽरण्ये सम्पदे वा गदे वा

राज्ये भैक्ष्ये रत्ने लोष्टे काङ्क्षने वा तृणे वा ।

स्रोतास्त्रिन्यां कामिन्यां वा निन्दने वा स्तुतौ वा

चित्तं चिन्ताऽवस्थां हित्वा संश्रयेथाः समाधिम् ॥

तत्रैव उदाहरणान्तरमाह, शत्राविति ।—क्लेशबहुलस्य
अस्य संसारस्य असारतामनुभूय परित्यक्ताखिलविषयानुरागः
कश्चित् तत्त्ववित् स्वशिष्य तत्त्वमुपदिशति । शत्रौ—विद्वेषार्हे
रिपौ, मित्रे—उपकारिणि सुहृदि, हर्म्ये—विलाससाधने इष्ट-
कादिरचितधनिजनोचितवासभवने इत्यर्थः, अरण्ये—क्लेशबहुले
वने, सम्पदे—प्रकृष्टानन्दे वा, गदे—नियतनिरतिशयक्लेश-
दायिनि रोगे वा, (“रोगव्याधिगदामयाः” इत्यमरः) राज्ये—
परमसम्मानार्हे राजकर्मणि, भैक्ष्ये—घृण्ये भिक्षाकर्मणि, रत्ने
—महामूल्ये मणौ, लोष्टे—तुच्छमृत्खण्डे, काङ्क्षने—महार्हे
स्वर्णे वा, तृणे—अतिहेये घासादौ वा, स्रोतस्त्रिन्यां—दुरवगाह्या
नद्यां, [स्रोतः प्रवाहः विद्यते यस्याः सा स्रोतस्त्रिनीत्रि स्रोतः-
शब्दादस्यर्थे विन्] कामिन्यां—सुखावगाह्यां वामलोचनायां वा,
निन्दने—स्वदोषाविष्करणे वा, स्तुतौ—आत्मनः प्रशंसायां वा,
चिन्तायाः,—अयं शत्रुः, इदं मित्रम्, इदं सुखसाधनम्, एतच्च
दुःखनिदानम् इत्यादिरूपाया भावनाया इत्यर्थः, अवस्थां—
दशां, हित्वा—परित्यज्य, चित्तं—मानसं, समाधिम्—ईश्व-
राभिनिवेशरूपमैकाग्र्यं, संश्रयेथाः,—नयेथाः, प्रापयेत्यर्थः
त्वमिति शेषः । अत्रापि पूर्ववत् रागद्वेषादिपरित्यागेन सर्वत्र
समदर्शनरूपतत्त्वज्ञानोदयकथनात् शब्दन्तरससङ्गतिः बोध्या ।
चित्रा वृत्तं,—“चित्रा नाम च्छन्दश्चित्तचेतयो मा यकारौ” इति
तत्त्वज्ञानात् ॥ ३१ ॥

उपसंहारः ।

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं
नानाऽलङ्कृतिभिः परीतमभितो गीत्या स्फुरन्त्या सताम् ।
तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि-
स्रष्टारो रचयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः ॥ ३२ ॥

इति षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥

अधुना चरमेण श्लोकेन कविरयं सर्वानन्यान् कवीन् उप-
दिशन्नाह, दोषैरिति ।—सरस्वत्याः इदमिति सारस्वतं—
शास्त्रम् इत्यर्थः, तत् अध्येतुं शीलम् एषाम् इति सारस्वता-
ध्यायिनः,—शास्त्राध्ययनशीला इत्यर्थः, कविस्रष्टारः,—कवय
एव स्रष्टारः,—काव्यरचयितारः इत्यर्थः, दोषैः,—प्रागुक्तः
श्रुतिकट्टादिभिः, उज्झितं—विरहितं, गुणाः,—पूर्वाक्ता माधु-
र्यादयः, तेषां गणैः,—समूहैः, आश्रितं—युक्तं, नानाऽल-
ङ्कृतिभिः,—विविधैः अनुप्रासोपमादिभिरलङ्कारैरित्यर्थः, चेतसः,
—चित्तस्य, चमत्कारिणम्—वैचित्र्यसाधायकम्, अभितः,—सम-
न्तात्, स्फुरन्त्या—विलसन्त्या, रीत्या—वैदभ्यादिनेत्यर्थः, परीतं
—निबद्धं, तैः तैः तत्तल्लक्षणकैरित्यर्थः, नवभिः,—नवविधैः,
रसैः,—शृङ्गारादिभिः, सतां—सहृदयानां, काव्यरसरसि-
क्तानामिति यावत्, तन्मयतां गतं—रसस्वरूपत्वेन अभ्युपपन्नं,
काव्यपुरुषं—काव्यम् एव पुरुषः तम्, आकल्पकालं—प्रलय-
कालपर्यन्तं, रचयन्तु—सृजन्तु, निबध्नन्तु इत्यर्थः, [“रचयन्तु”
इत्यत्र “घटयन्तु” इति पाठान्तरेऽपि स एवाथः । अत्र पुरुष-
शब्देन पुंसन्तानः पुत्रो व्यज्यते] । तत् अयं भावः,—यथा

पुत्रोत्पादने वंशस्थापनं नामकीर्तनञ्च भवेत्, तथा काव्यस्य
रचने वंशप्रशस्तिः सुचिरं नामकीर्तनं भवति, इति लिष्कर्षः ;
ब्रह्मा संसारप्रवाहाविच्छेदाय आप्रलयं प्राणिसृष्टिं करोति,
तथैव कवयोऽपि कवितारचनाऽविच्छेदाय यावत्संसारं जाव्यानि
रचयन्तु इति भावः ॥ ३२ ॥

इत्यशेषशास्त्राटवीसञ्चरणपञ्चानन-कुलपतिकल्प-वि, ए, इत्युपनामक-श्रीमज्जीवानन्द-

विद्यासागरभट्टाचार्यविरचिताया, तदात्मजाभ्या पण्डितश्रीमदाशुबोध

विद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबोधविद्यारत्नाभ्या परिवर्तित-

परिवर्द्धिताया वाग्भटालङ्कारव्याख्याया

षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥



